Part- A, Chapter-4

अध्याय-४

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास (सन् १९३६ -१९६० ई०)

८ अक्टूबर १९३६ ई० को प्रेमचन्दजी का देहान्त हो गया, परन्तु उनका प्रभाव अद्यावधि अनेक लेखकों में मिलता है। प्रस्तुत अध्याय में प्रेमचन्द-परवर्ती उपन्यासों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। साठोत्तरी उपन्यासों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध के 'खण्ड- ख' में अलग से दिया जायेगा। अत: इस अध्याय में विवेचित उपन्यासों की समय-सीमा सन् १९३६ ई से सन् १९६० तक रखी गई है।

लगभग चौबीस-पच्चीस वर्षों के इस काल-खण्ड में कृतियों की संख्या तथा कृतित्व का वैविध्य पूर्ववर्ती युग से अधिक है। साथ ही कृतित्व की चेतना का संचार ~~सक~~ साठोत्तरी उपन्यासों में दिखायी पड़ता है। इन कृतियों के अनुशीलन से पूर्व युगिन पीठिका की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

युगिन परिस्थितियाँ : राजनीतिक दृष्टि से यह युग संक्रान्ति का है। सन् १९३७ ई० में अनेक राज्यों में कांग्रेस मन्त्री-मण्डल आता है। सन् १९३९ ई० में दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो जाता है जो सन् १९४५ ई० तक चलता है। सन् १९४० ई० से कांग्रेस की सक्रिय अवज्ञा का युद्ध पुन: आरम्भ हो जाता है। सन् १९४२ ई० में 'भारत छोड़ो' का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन छिड़ जाता है। अनेक नेताओं को कारावास भुगतना पड़ता है। सुभाषचन्द्र बोस जापान और जर्मनी से मिलकर आज़ाद हिन्द फौज' की स्थापना करते हैं। जनता अब उन्हें नेताजी के नाम से पुकारती है। सरदार भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद जैसे क्रान्तिकारी ब्रिटिश शासन के के दमन के शिकार हो चुके थे किन्तु क्रान्ति की आग उसी प्रकार प्रज्ज्वलित रही। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भी इसका प्रभाव किसी-न-किसी रूप में रहा। नेताजी सुभाषचन्द्र एक विमानी दुर्घटना के शिकार हुए।

विश्व की राजनीति का पहिया तेजी से घूमने लगता है। विश्व युद्ध में जापान और जर्मनी बुरे हाल होते हैं। जापान के नागासाकी और हिरोशीमा नामक

शहर अमरिकी अणु बौम्ब के शिकार हुए । विश्व को नरक की यातनाओं का प्रथम साक्षात्कार हुआ । इंगलैण्ड में मजदूर पक्ष सत्ता स्थान पर आता है । इधर भारत में अल्प मत और बहुमत के आधार पर मुसलमानों के लिए पृथक पाकिस्तान देने की अंग्रेजों की योजना को किसी प्रकार हमारे नेताओं ने स्वीकार किया । इसने साम्प्रदायिक दंगों की विभीषिका का भयानक दृश्य खड़ा कर दिया । भारत विभाजन ने जहां एक ओर १५ अगस्त १९४७ को हमें आजादी का फतवा दिया वहां दूसरी ओर कितने ही भारतीयों की हत्या, बलात्कार, आगजनी, लूटपाट और साम्प्रदायिक विद्वेष का अकाण्ड ताण्डव खड़ा कर दिया । हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता ही जाता है । कल तक जो साथ-साथ एक दूसरे के त्यौहारों में नाचते-कूदते थे आज अचानक एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये । कलकत्ते से फैली हुई कौमी आग समूचे देश को अपने राक्षसी पाश में कस लेती है । नृशंसता एवं बर्बरता का नंगा नृत्य चारों तरफ दीख रहा था । लोग खून के आंसू पी रहे थे ।

सरकार का मार्ग कण्टकपूर्ण था । निर्वासितों का प्रश्न, देशी राज्यों का प्र प्रश्न, आदि कई समस्याएं थीं । आजादी मिलते ही जो उपर्युक्त साम्प्रदायिक विद्वेष ने हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का भोग लिया । ३० जनवरी, १९४८ ई० , शुक्रवार का दिन भारतीय इतिहास का एक काला पृष्ठ है । फिर भी पण्डित नेहरू और सरदार पटेल ने धैर्य से काम लिया । लौह पुरुष एवं भारतीय बिस्मार्क सरदार पटेल ने देशी राज्यों के विलीनीकरण में तत्परता से काम लिया । निर्वासितों के प्रश्नों को भी जैसे-तैसे सुलझाया गया । सन् १९५० ई०, २६ जनवरी को भारत एक प्रजासत्ताक राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आया । डॉ० राजेन्द्रप्रसाद हमारे प्रथम अध्यक्ष आ और पण्डित नेहरू प्रथम प्रधान मन्त्री तथा सरदार पटेल प्रथम उप प्रधान मन्त्री हुए । इसी बीच एक और करारा आघात लगा और वह है सन् १९५०, ३१ अक्टूबर को भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल का देहान्त । नेहरू ने सुकान किसी प्रकार संभाल लिया । नेहरू के पंचशील के सिद्धान्तों को खूब विश्व-ख्याति मिली । विवेच्य काल में दो-दो आम चुनाव में कांग्रेस विजयी हुई । दो पंचवर्षीय योजनाएं गुजर गयीं । भाखरा-नांगल, हीरा कुण्ड, दामोदर आदि योजनाओंने देश को विकास-पथ की ओर अग्रसर किया । किन्तु इन योजनाओं के बावजूद भी देश में जैसी प्रगति होनी चाहिए वैसी नहीं हो सकी, क्योंकि अंग्रेजों के समय के शोषकों ने अब सेवकों का स्वांग धारण कर लिया था । अंग्रेजों के समय में जो गांधी तीन दशकों तक सब पर छाया रहा,

आज़ादी के मिलते ही भुला दिया गया । स्वार्थपरता एवं सत्तालोलुपता ने नेताओं को भ्रष्ट किया । हमारे राष्ट्रय धारा के कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने इस स्थिति का बड़ा ही व्यंग्यात्मक एवं मार्मिक चित्र अपने एक काव्य -- 'रावी का तट: यमुना का तट'-- में दिया है ।

यथा राजा तथा प्रजा । स्वाधीनता संग्राम के समय में लोगों के दिलों पर नेताओं का शासन था । चारों तरफ एक जागृति थी । राष्ट्रीयता का वातावरण था । सरफरोशी की तमन्ना थी । स्त्री-पुरूष सभी में एक उत्साह था, उमंग थी । सामाजिक सुधारों की ओर लोगों का उत्साह था । पर आज़ादी के बाद चित्र धीरे-धीरे बदलने लगा । नेताओं के आचार-विचार, कथनी-करनी में अन्तर आया तो लोगों में भी अन्तर आया । द्वैत बढ़ने लगा । बाहर से राष्ट्रीयता भीतर से मानसिक- दासता बाहर से आधुनिक भीतर से वही परम्परावादिता । मध्य वर्ग की मन:स्थिति दिन-प्रति -दिन 'गाल पर तमाचा लगाकर लाल रखने' की ओर होती गई । गांव और संयुक्त परिवार टूटे । नगरों एवं महानगरों की सभ्यता ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया । सम समाज पर अर्थ का प्रभाव बढ़ा । स्त्रियाँ पढ़ने-कमाने लगीं तो उनमें आत्म-निर्भरता भी आयी । पर गांवों में विकास की गति मन्द रही ।

इसी बीच कांग्रेस ने भुवनेश्वर के अधिवेशन में समाजवादी समाज रचना का एक आकर्षक नारा दिया । इसकी पूर्व-पीठिका पर विचार करते हुए डॉ० शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि --" सन् १६३१ के कराची अधिवेशन में कांग्रेस ने सर्वसम्मति से इस समझौते (गांधी-इरविन) को स्वीकार कर लिया । वामपन्थी सुभाष और नेहरू मन मसोस कर रह गये, कारण वे जानते थे कि अधिसंख्य बहुमत समझौते के पक्ष में है । अपने 'आत्मचरित' में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने मन का विक्षोभ मर्मी मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त किया । परन्तु कराची अधिवेशन में वामपन्थियों को खुश करने के लिये दक्षिणपन्थी नेताओं ने कुछ नये संकल्प भी किये , जिनका तात्कालिक उद्देश्य कुछ भी हो,राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव की एक झलक उनमें अवश्य मिलती है । सच पूछा जाय तो कराची के कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार समाजवाद का स्वर स्पष्ट होकर गूँजा -- जबकि मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित निम्न प्रस्ताव पास किया --" इस कांग्रेस की राय है कि कांग्रेस जिस प्रकार के 'स्वराज्य की कल्पना करती है, उसका जनता के लिए क्या अर्थ होगा, इसे वह ठीक-ठीक जान जाय, इसीलिये यह आवश्यक है कि कांग्रेस अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट कर

दे, जिसे वह आसानी से समझा जा सके । साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखे मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो ।"[१] परन्तु सही अर्थों में समाजवादी समाज रचना की प्रतिष्ठा न हो सकी । हम आज भी यही अनुभव कर रहे हैं कि कांग्रेस के इस तीस वर्षीय शासन काल में अमीर अधिक अमीर और दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब होते गये हैं ।

संक्षेप में विवेच्य काल के उत्तरार्द्ध में समाज में दोहरे स्तर, दोहरी जीवन नीति-रीति आदि दृष्टिगोचर होते हैं और उसका प्रतिबिम्ब साहित्य में भी मिलता है । उपन्यास में सविशेष क्योंकि वह यथार्थधर्मी विधा है ।

<u>प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास प्रवृत्तियाँ :</u> प्रेमचन्द तक आते-आते उपन्यास शुद्ध यथार्थवादी धरातल पर स्थापित हो चुका था । प्रेमचन्दोत्तर युग में इसी यथार्थ के विभिन्न ~~रूप~~ आयाम उपलब्ध होते हैं । मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के मनोविश्लेषणवाद ने समाज एवं व्यक्ति के यथार्थ को और भी स्पष्ट कर दिया । सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों का सूत्रपात तो प्रेमचन्द ने कर ही दिया था । चैतसिक या मानसिक यथार्थ को उद्घाटित करनेवाले मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात जैनेन्द्रकुमार द्वारा हुआ । उनके अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डॉ० देवराज आदि लेखक इसी धारा में आते हैं । सामाजिक उपन्यासों की धारा में कुछ लेखक (प्रगतिवादी)मार्क्सवादी-साम्यवादी सिद्धान्तों को लेकर उपन्यास रचना में प्रवृत्त हुए । उनके उपन्यास समाजवादी उपन्यास कहलाते हैं । यहां यह बात ध्यातव्य है कि हिन्दी उपन्यास के समीक्षाक्षेत्र में `समाजवादी` शब्द `मार्क्सवादी` के रूढ अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है ।[२] यशपाल नागार्जुन, डॉ० ~~रांगेय~~ रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त आदि इस धारा के उपन्यासकार हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास `मैला आंचल` (१९५४ ई०) के प्रकाशन के साथ ही आंचलिक उपन्यासों की एक नयी धारा अस्तित्व में

---

१. `मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त` : डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ० ४८५-४८६ । २. देखिए :`हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा` :डॉ० रामदरश मिश्र ।

आयी । उसमें एक अंचल विशेष के सीमित परिवेश को उसके सम्पूर्ण यथार्थ में उद्घाटित करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । रेणु, नागार्जुन, राजेन्द्र अवस्थी, देवेन्द्र सत्यार्थी प्रभृति लेखक इस धारा में आते हैं । इन औपन्यासिक प्रवृत्तियों के साथ ही साथ ऐतिहासिक उपन्यासों की धारा भी बराबर प्रवाहित होती रही । इसमें भी निरूपित युग के यथार्थ चित्रण पर अधिक बल दिया जाने लगा था । सर्वश्री वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव प्रभृति लेखकों ने इस काल में अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन किया ।

इस प्रकार विवेच्य काल में निम्नलिखित उपन्यास-प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं : (१) सामाजिक उपन्यास, (२) समाजवादी उपन्यास, (३) आंचलिक उपन्यास, (४) मनोवैज्ञानिक उपन्यास, और (५) ऐतिहासिक उपन्यास । अब इन सभी उपन्यास प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास पर हम संक्षेप में विचार करेंगे ।

(१) सामाजिक उपन्यास

यों तो सभी उपन्यास सामाजिक होते हैं । परन्तु अपने रूढ अर्थों में सामाजिक उपन्यास की संज्ञा से वे उपन्यास अभिहित किए जाते हैं जिनमें समाज का सम्पूर्ण चित्र उसके सारे यथार्थों के साथ अंकित किया जाता है । समाज, उसकी छोटी-बड़ी संस्थाएं, उसकी परिस्थितियां, परिवर्तित जीवन-मूल्य आदिका पूर्वाग्रहरहित चित्रण इनमें होता है । ऐसे उपन्यास किन्हीं पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों को लेकर नहीं चलते । हिन्दी में अपने आरम्भ काल से ही इन उपन्यासों का प्रचलन हो चला था, परन्तु प्रेमचन्दजी ने इनको सर्वांगीणता प्रदान की । प्रेमचन्दोत्तर युग में भी यह परम्परा समाप्त नहीं हुई । डॉ० रणवीर रांग्रा के मतानुसार यह परम्परा " कुछ समय के क्षीण अवश्य हो गई, पर देश के विभाजन के समय की सर्वतोमुखी अराजकता ने लेखक को अपने परिपार्श्व के प्रति और भी सजग कर दिया । उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह सामाजिक उद्देश्य को लेकर नये जोश से लिखने लगा ।"१

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' प्रेमचन्द काल से ही लिख रहे थे । उनके उपन्यासों में समाज के नग्न यथार्थ का चित्रण कुछ तिक्तता लिए हुए रहता है । इस

---

१. लेख -- 'प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास' : ले० डॉ० रणवीर रांग्रा : 'हिन्दी उपन्यास': सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० १६८ ।

नग्न यथार्थवादिता को लक्ष्य करके डा० त्रिभुवन सिंह `उग्र` जी को प्रकृतवादी उपन्यासकार मानते हैं।[१] परन्तु केवल नग्न यथार्थवादिता ही प्रकृतवाद नहीं है ।और न यथार्थवाद का भ्रष्ट रूप ही प्रकृतवाद है, जैसा कि डॉ० भारतभूषण अग्रवाल ने कहा है।[२] नग्न यथार्थवाद के बावजूद प्रकृतवाद में वैज्ञानिक अन्वेषण, तटस्थता, निस्संगता आदि कलात्मक मानदण्डों को ग्रहीत किया जाता है। `उग्र` जी में विक्टर ह्यूगो, एमिल ज़ोला, फ्लाबेयर जैसे फ्रान्सीसी औपन्यासिकों की कलानिष्ठा का अभाव है। अत: कई बार उनके उपन्यासों में पत्रकारिता के स्तर का भण्डाफोड़ ही मिलता है। `सरकार तुम्हारी आँखों में (१९३७ ई०), `जीजीजी` (१९४३ ई०), `कढ़ी में कोयला` (१९५५ ई०) तथा `फागुन के दिन चार` (१९६० ई०) आदि उनके विवेचित काल के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। `फागुन के दिन चार` संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया फिल्मथजगत की कुत्सित प्रवृत्तियों का रहस्योद्घाटन करने वाला उपन्यास है। कथ्य, तकनीक एवं भाषा-शैली सभी दृष्टियों से वह यथार्थवादी है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी प्रेमचन्द काल से लिखते हैं। उनके उपन्यास प्राय: नारी और प्रेम से सम्बन्धित हैं। विवेच्य काल में उनके `पिपासा` (१९३७ ई०), `दो बहिनें` (१९५० ई०), `चलते-चलते` (१९५१ ई०), `पतवार` (१९५२ ई०), `मनुष्य और देवता` (१९५४ ई०), `धरती की सांस` (१९५५ ई०), `भूदान` (१९५५ ई०), `एक प्रश्न` (१९५६ ई०) `विश्वास का बल` (१९५६ ई०), `उससे न कहना` (१९५७ ई०) `दरार और धुआं` (१९६० ई०) आदि उपन्यास आते हैं। `पिपासा` में कर्तव्य और वासना का संघर्ष दिखाकर कर्तव्य की विजय बतायी है। `दो बहिनें` में एक प्रेमी की दो प्रेमिका बहनों को एक साथ रख मनोविश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री उपस्थित की है।[3] निमन्त्रण में पौरात्य एवं पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष दिखाया है। `चलते-चलते` शिल्प-गत प्रयोग की दृष्टि से वाजपेयीजी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। उसमें चेतन प्रवाह शैली (stream of conciousness) का आंशिक प्रयोग मिलता है। उसमें राजेन्द्र नामक एक युवक का अनेक विवाहित, अविवाहित

---

१. `हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद` : डॉ० त्रिभुवन सिंह : पृ० ४०८ ।

२. `हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव` : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ०६४ ।

३. `काव्य के रूप` : डॉ० गुलाबराय : पृ० ८८६ ।

विधवा, त्यक्ता आदि नारियों से सम्बन्ध बताया है।

विवेच्य काल में सियारामशरण गुप्तजी का एक मात्र उपन्यास 'नारी' (१९३७ ई०) मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों की प्रतिमूर्ति जमुना के रूप में 'नारी' में गढ़ी है --

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।'

जमुना का पति वृन्दावन उसे असहाय छोड़कर चला जाता है। अपने एक मात्र बालक--पुत्र हल्ली के साथ आर्थिक व सामाजिक संघर्षों को झेलते हुए वह रहती है। उसमें रूप था, यौवन था। चाहती तो अन्यत्र पुन: विवाह कर सकती थी। परन्तु अनेक वर्षों तक वह अपने पति को खोजती रही। उसके इस कार्य में उसके पति के मित्र अजीत चौधरी ने जी-जान से सहायता दी थी। अन्त में वह उसी से विवाह कर लेती है।

'निर्मला', 'नारी' और 'त्यागपत्र' इन तीन उपन्यासों की लघुत्रयी नारी की दीन-हीन असहाय अवस्था की ट्रेजडी है। डॉ० नगेन्द्र ने 'त्यागपत्र' और 'नारी' पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है ---' त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और 'नारी' का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफारिश करता है।'[१]

'चित्रलेखा' के द्वारा भगवतीचरण को अतुलनीय ख्याति प्राप्त हुई। विवेच्य काल में उनके 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६ ई०), 'आखिरी दांव' (१९५० ई०), 'अपने-अपने खिलौने' (१९५७ ई०), 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९ ई०), 'वह फिर नहीं आई' (१९६० ई०) आदि उपन्यास मिलते हैं। वर्माजी के कलाकार में हमें अहं पोषित व्यक्तिवाद एवं नियतिवाद मिलता है। कथा कहने की और बहलाने की कला उन्हें हस्तगत है। 'चित्रलेखा का महत्व उसके दार्शनिक चिन्तन के लिए नहीं अपितु इसी कथा-कौशल के कारण है।

---

१. 'विचार और अनुभूति' : डॉ० नगेन्द्र : पृ० १३४ ।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में स्वातन्त्र्य-पूर्व राजनैतिक आन्दोलन के तीन रास्तों -- गांधीवादी, आतंकवादी और साम्यवादी -- को उपन्यास का विषय-वस्तु बनाया है। पात्रों के कथोपकथन में इन तीनों वादों के सिद्धान्तों की चर्चा भी मिलती है। पण्डित रामनाथ तिवारी पुराने संस्कारों के, अंग्रेजी शासन के हिमायती एवं भक्त तथा अपनी शान पर सबकुछ मिटा देने वाले ताल्लुकेदार हैं। उनके तीन पुत्रों में दयानाथ कांग्रेसी, उमानाथ कोम्यूनिस्ट और प्रभानाथ आतंकवादी है। इनके द्वारा अपनाए गए रास्तों को ही लेखक टेढ़े-मेढ़े रास्ते कहता है। डॉ० त्रिभुवनसिंह के अनुसार 'इसके चरित्रों में यथार्थता है, कथावस्तु में नहीं।'[1] परन्तु चरित्रों में पण्डित रमानाथ तिवारी, भगडू मिश्र और दयानाथ के चरित्र ही यथार्थ की भूमि को स्पर्श करते हुए बन पड़े हैं। उमानाथ, प्रभानाथ और वीणा का चरित्रांकन अतिरंजनापूर्ण हो गया है। अज्ञेयजी ने ठीक ही लिखा है --'उपन्यास का सबसे अधिक विश्वास्य और खरा चित्र ताल्लुकेदार का ही है और उसके बाद गांव के बूढ़े भगडू का। और इसका कारण यही है कि इन्हीं दो पात्रों को लेखक की मानवीय सहानुभूति मिली है, इन्हीं के मन को उसने संवेदना के सहारे समझा और ग्रहण किया है। निस्संदेह उपन्यास रोचक है और लेखक की प्रतिज्ञा की सीमाओं को समझ लेने के बाद बौड्मपन पर हंस सकना भी सम्भव है।'[2]

'भूले-बिसरे चित्र' विषय-वस्तु एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से वर्माजी का एक उल्लेखनीय बृहद् उपन्यास है। इसमें सामन्तीय संस्कारों में पले हुए एक परिवार की चार पीढ़ियों की कहानी के द्वारा भारतीय इतिहास के बदलते हुए चित्र एवं जीवन-मूल्यों का कलात्मक आकलन है। 'भूले-बिसरे चित्र' बदलते एवं बहते ह हुए समय की कहानी है। इसके द्वार ालेखक ने सन् १८८५ से लेकर सन् १९३० तक के भारतिय समाज को अपनी कल्पना द्वारा उभारा है। डॉ० रणवीर रांग्रा के मतानुसार प्रेमचन्द के बाद बदलते हुए समाज को, बदलते हुए जीवन-मूल्यों को पकड़ने का यह पहला और उत्कृष्ट प्रयास है, पर उपन्यास के रूप में यह रचना पुष्ट नही कही जा सकती। शिल्प की दृष्टि से उसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें चार पीढ़ियों की, चार युगों की, अलग-अलग कहानियां हैं और प्रत्येक कहानी का अलग नायक है। इससे उपन्यास का कथानक बिखर गया है और पूरी रचना में अन्विति नहीं आ पायी है।'[3]

---

१. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : डॉ० त्रिभुवनसिंह : पृ० २५५।
२. 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' : अज्ञेय : पृ० ६१-६२।
३. 'हिन्दी उपन्यास' : सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० १७०।

परन्तु आधुनिक काल में कथान्विति में नायक का एक होना अनिवार्य नहीं है। वस्तुत: `भूले-बिसरे चित्र` में नायक कोई व्यक्ति विशेष न होकर जाति-विशेष है। प्रत्येक पीढ़ी की कहानी अलग व स्वतन्त्र न होकर परस्पर गूंथी हुई है अत: अन्विति का अभाव नहीं कहा जा सकता। कथानक में बिखराव होते हुए भी उसे कुशलता से स समेटने की कला वर्माजी में है। कथा-कौशल्य की दृष्टि से हम उनकी तुलना गुजराती के प्रसिद्ध उपन्यासकार कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी से सहज ही कर सकते हैं। `भूले-बिसरे चित्र` वस्तुत: एक सामाजिक रोमान्स ह (Social Romance) है।

`आखिरी दांव` की मुख्य समस्या आर्थिक है। आधुनिक धन-पिशाचों ने समाज के स्वरूप को विकृत कर दिया है। फिल्म-जगत के कुत्सित वातावरण को भी इसमें लेखक ने लिया है। `अपने-अपने खिलौने` तथा `वह फिर नहीं आई` वर्माजी के लघु उपन्यास हैं। `अपने-अपने खिलौने` में दिल्ली के विशिष्ट समाज का व्यंग्य चित्र प्रस्तुत किया है तो `वह फिर नहीं आई` विभाजन के बाद की विस्फोटक स्थिति को रेखांकित करता है जिस में लेखक ने पूर्व-दीप्ति (Flash-back) की टेकनीक का प्रयोग किया है।

सामाजिक उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का एक विशिष्ट स्थान है। इनके सामाजिक उपन्यासों में `महाकाल` (१९४७ ई०), `सेठ बांकेमल` (१९५५ ई०), `बूँद और समुद्र` (१९५६ ई०) आदि विवेच्य काल में आते हैं। `बूंद और समुद्र` एक महाकाय उपन्यास है जिसमें बूंद और समुद्र के माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों को चित्रित किया गया है। इसमें लखनऊ के एक मुहल्ले के जीवन द्वारा पूरे देश के वर्तमान स्वरूप को उद्घाटित किया गया है। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में," `बूँद और समुद्र` समाज के बुनियादी यथार्थ की रीढ़ पर खड़ा है। अर्थात् उसने आज के मनुष्य के भीतर उठते हुए भावगत, विचारगत परिवर्तनों, संक्रान्त मूल्यों और सम्बन्धों, राजनीतिक दलों की विभीषिकाओं से त्रस्त होती हुई मानवता को पहचाना है। लेखक ने समाज और व्यक्ति दोनों की विसंगतियों को तीव्र यथार्थवादी दृष्टि से देखा है, उसने समाज के विविध चरित्रों को और उनके सम्बन्धों को पहचाना है।"[१] `बूँद और समुद्र` की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों

---

१. `हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा` : डा० रामदरश मिश्र : पृ १३२।

में की जाती है। इसमें निरूपित `ताई` का पात्र हिन्दी उपन्यासों के विरल पात्रों में है। डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार "`ताई` में क्लैसिक कैरेक्टर होने की अपार क्षमता है।"[1] `महाकाल` की वस्तु बंगाल के अकाल से ली गई है तो `सेठ बांकेमल` हास्य-व्यंग्य प्रधान उपन्यास है जिसमें प्राय: आगरे की आंचलिक बोली का प्रयोग किया गया है।

उपेन्द्रनाथ `अश्क` के उपन्यासों में उत्तर भारतीय, विशेषत: पंजाब के मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ आकलित हुआ है। अपने उपन्यासों में निरूपित यथार्थवाद को अश्कजी ने आलोचनात्मक यथार्थवाद (critical Realism) कहते हैं।[2] उनकी यथार्थवादी दृष्टि को अज्ञेयजी ने अणुवीक्षक दृष्टि कहा है। "जिस तरह मूर्ति पर चलता हुआ चींटा उसकी रचना की एक-एक बारीकी और सतह के खुरदरेपन को देखता है"[3] उसी प्रकार अश्कजी ने समाज की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकृति एवं विसंगति को अपने उपन्यासों में उभारा है। विवेच्यकाल में उनके `सितारों के खेल` (१९३६ ई०), `गिरती दीवारें` (१९४७ ई०), `गर्म राख` (१९५२ ई०), `बड़ी-बड़ी आँखें` (१९५५ ई०), पत्थर अल पत्थर` (१९५७ ई०) आदि उपन्यास मिलते हैं। `सितारों के खेल` में लेखक की स्वप्नशीलता एवं अपरिपक्वता के दर्शन होते हैं। इस उपन्यास से अश्कजी की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। उपन्यासकार के रूप में अश्कजी की ख्याति का मूलाधार है `गिरती दीवारें` जिसमें उन्होंने नायक `चेतन` के द्वारा निम्न मध्य वर्ग की आर्थिक विषमता और यौन कुण्ठाओं का सजीव चित्र अंकित किया है। वस्तुत: भारतीय निम्न मध्य वर्ग इन्हीं दो समस्याओं का शिकार है। `गिरती दीवारें` अपने आपमें पूर्ण होते हुए भी उसी श्रृंखला में अश्क के और तीन उपन्यास

---

१. `हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा` : डॉ० रामदरश मिश्र : पृ० १३३।

२. "प्रकृतवाद और यथार्थवाद की बहस में न पड़कर मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि मैं अपने यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद कहूँगा -- समाज के यथार्थ को उसके उभरेपन के साथ व्यक्त करते हुए, मैं व्यंग्य, विद्रूप और हास्य के माध्यम से उसकी आलोचना करता हूँ।": `उपन्यासकार अश्क` सम्पादक - डॉ० इन्द्रनाथ मदान : पृ० ८०।

३. `हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य` : अज्ञेय : पृ० ६२।

प्रकाश में आए हैं -- 'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्हीं कन्दील' और 'बांधो न नाव इस ठांव' -- पर इन की चर्चा अगले खण्ड में होगी। 'गिरती दीवारें' की भूमिका में लेखक ने बताया है कि इस उपन्यास के सजन-काल में तुर्गनेव, गाल्सवर्दी, रोमा रोलां, वर्जीनियन वूल्फ, शोलोखोव और प्रेमचन्द पढ़ते रहे हैं और तुर्गनेव से चुलबुलापन, गाल्सवर्दी से विवरणात्मक चित्रण, प्रेमचन्द से जागरूकता और शोलोखोव से कथानक का ढीलापन ग्रहण करते रहे हैं।[१] अपनी औपन्यासिक कला के बारे में वे लिखते हैं --' मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर रूस के प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार गोगोल के शब्दों में इतना कहूंगा कि इन नन्हीं नन्हीं निरर्थक तफसीलों और इन छोटे-छोटे अकिंचन, अति हेय पात्रों को, जिनसे हमारा जीवन-पथ अटा पड़ा है और जिन्हें आसमान में लगी हुई हमारी दृष्टि देखकर भी नहीं देख पाती, उस दैनिक जीवन की दलदल से निकाल, बना-संवार पाठकों की अन्यमनस्क, उदासीन आंखों के सामने इस प्रकार रखना कि वे उन्हें बरबस देखने और उनका नोटिस लेने को विवश हो जायें, कम कष्टसाध्य नहीं।'[२]

वस्तु, शैली एवं टेकनीक की दृष्टि से 'गिरती दीवारें' की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यासों में होती है।[३] आधुनिक विषमता और रूढ़ियों

---

३. तुलनीय :' 'गिरती दीवारें' की शैली और टैकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ, परिष्कृत और कलापूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के 'गोदान' की यथार्थवादी परम्परा में अश्क का यह उपन्यास एक बहुत बड़ा और साहसपूर्ण कदम है। सम्भवत: इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' हिन्दी की यथार्थवादी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गणना करने योग्य है। प्रेमचन्द के 'गोदान' ने यदि किसान-जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है तो अश्क ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्य वर्ग का व्यापक चित्रण किया है।' : डॉ० शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन : पृ० २३२।

१. भूमिका :' गिरती दीवारें' : उपेन्द्रनाथ अश्क।

२. ' उपन्यासकार अश्क' : सम्पादक -डॉ० इन्द्रनाथ मदान : पृ० ८०-८१।

की दीवारों में बन्द चेतन निम्न मध्य वर्ग का प्रतिनिधि है। उसकी छटपटाहट और दर्द को लेखक ने सही मानों में पहचाना है। अर्थ और काम दोनों की निष्कृतियों में मध्य-वर्ग परतन्त्र है। नौकरी और बीबी दोनों मनचाही न मिलकर अनचाही ही मिलती हैं और इस विभीषिका में अनेक चेतन और चन्दाएं, चेतन और नीलाएं, त्रिलोक और नीलाएं दिनरात जलते हैं। आत्म-दमन इस वर्ग की नियति है। 'गिरती दीवारें' इस नियति की क्रूरता को और गहराता है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के मतानुसार, "'गिरती दीवारें' अत्यन्त सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिन्दी में अमर रहेंगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आंच नहीं आयेगी।"[१]

'गिरती दीवारें' की नीला और 'गर्मराख' की सत्या एक ही प्रकार की बेबसी और निराशा से घिरी हुई हैं। 'गर्मराख' में प्रेम का वही पुराना त्रिकोण (Love triangle) मिलता है -- सत्या जगमोहन को चाहती है, जगमोहन दुरो को चाहता है और दुरो हरीश को चाहती है। डॉ० शिवदानसिंह के अनुसार 'गर्म राख' एक प्रकृतवादी उपन्यास है।[२] परन्तु आंशिक दृष्टि से ही उसे प्रकृतवादी उपन्यास मान सकते हैं, क्योंकि प्रकृतवादी उपन्यासकार की दृष्टि कभी भी आलोचनात्मक नहीं हो सकती। जबकि अश्कजी स्वयं अपने यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। 'बड़ी-बड़ी आँखें' और 'पत्थर-अल-पत्थर' लघु उपन्यास हैं प्रथम में एक आदर्शात्मक यूटोपिया का वर्णन है, तो दूसरे में हसनअली नामक एक गरीब कश्मिरी घोड़ेवान की गरीबी एवं लाचारी को यथातथ्य रूप में अंकित किया है।

आधुनिक कथा-शिल्पियों में बहुचर्चित एवं सशक्त हस्ताक्षर हिमांशु श्रीवास्तव प्रेमचन्दजी की 'गोदान' की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। उनके उपन्यासों में भारतीय किसान और मजदूर जीवन का सफल एवं विश्वसनीय चित्र उभरता है। 'लोहे के पंख' (१९५८ ई०) उनकी एक सशक्त औपन्यासिक रचना है। यह उपन्यास 'मंगरू' चमार की चार पीढ़ियों की कहानी है जिसे स्वयं मंगरू प्रौढ़ावस्था में लेखक को सुनाता है। वर्माजी के 'भूले-बिसरे चित्र' से यह उपन्यास भिन्न धरातल पर

---

१. 'साहित्यानुशीलन' : डॉ० शिवदानसिंह चौहान : पृ० २३२।
२. वही : पृ० २३६। ३.

आगे बढ़ता है। 'गोदान' के होरी की भक्ति यह महेच्छा थी कि उसके आंगन में गाय बंधे ताकि उसकी भी गिनती सम्मानित किसानों में हो, पर उसकी ट्रेजडी यह है कि शोषण के पाटों में पिसते-पिसते, मामूली मजदूर बनकर झुलसती हुई लू में मर जाता है। 'लोहे के पंख' के मंगरू के बाप झगडू की बलवती इच्छा मजदूर से किसान बनने की थी। अत: वह शहर में जाकर मिल में मजदूर बन जाता है। इस प्रकार वह खेत-मजदूर से मिल-मजदूर हो जाता है पर स्वप्न स्वप्न ही रहता है। डा० त्रिभुवनसिंह ने इसकी विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा है --

'उपन्यास का नायक मंगरू अद्भुत माटी का बना व्यक्ति है। वह हाड़-मांस का बना पुतला नहीं, बल्कि फौलादी आदमी है। वह उड़ना चाहता है पर उसके पंख लोहे के हैं जिन पर परिस्थितियों का इतना बोझ आ पड़ा है कि उसका आगे बढ़ना भी दूभर हो गया है, फिर भी क्या वह कभी हिम्मत हारता है?'[१] कमर तोड़ देने वाली गरीबी से वह निरन्तर जूझता है।

यह उल्लेखनीय है कि लोहे के पंख' गरीबी और शोषण की तिक्तता को उभारने वाला उपन्यास है। गरीबों का शोषण हर जगह हो रहा है। गाँव में बच्चाबाबू जैसे जमींदार है तो शहर में नेतागण। हम नागनाथ तो तुम सांपनाथ। गरीब की जान की कीमत न गांव में है न शहर में। मंगरू के दादा ने जमींदार की जमीन की रक्षा के लिए अपना बलिदान देकर अपने खून से नमक का हक अदा किया, पर उसी मालिक ने उसके मरते हुए बेटे को खून देने के लिए पैसे तक नहीं दिए। कितनी बड़ी स्वामी-भक्ति और कितना बड़ा दुच्चापन। जमींदार और उसके मुंहलगे अखैबरा जैसे नौकरों का जुल्म अमानुषिता की हर सीमा को लांघ जाता है जो गरीब मजदूरों के गुप्त स्थानों तक में मिर्चा भरने का काम करता है। शहर में भी रक्टू और झपसी मिस्त्री की आकस्मिक मृत्यु ट्राली के उलट जाने और तेजाब की टांकी में गिरने से बताई गई)है जो यह सिद्ध करती है कि गरीबों का जीवन कीट-पतंगों से अधिक गया-बीता है।आजादी के पहले और आजादी के बाद, गरीबों की किस्मत में तो खटना और मरना ही लिखा है, यथार्थ की इस कटुता को लोहे के पंख बहुत गहराई से उभारता है।

---

१. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : डॉ० त्रिभुवनसिंह : पृ० ५५६।

अन्य : सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलने वाले उपन्यासकारों में श्री उदयशंकर भट्ट, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, विष्णु प्रभाकर, राधिकारमण प्रसादसिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, कृषभचरण जैन, विश्वम्भरनाथ शर्मा `कौशिक`, सूर्यकान्त त्रिपाठी `निराला`, गोविन्द वल्लभ पन्त, उषा देवी मित्रा आदि उल्लेखनीय हैं। उदयशंकर भट्ट मूलत: नाटककार हैं परन्तु उनके उपन्यासों में `वह जो मैंने देखा` (१९४५ ई०), `नये मोड़` (१९५३ ई०), `सागर लहरें और मनुष्य` (१९५५ ई०) `लोक-परलोक` (१९५८ ई०), `एक नीड़ दो पंछी` (१९५९ ई०) `शेष-अशेष` (१९६० ई०), `डॉ० शेफाली` (१९६० ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। `सागर लहरें और मनुष्य की गणना आंचलिक उपन्यासों में होती है। `डा० शेफाली` में शिक्षिता एवं आर्थिक रूप से स्वतन्त्र ऐसी आधुनिक नारी के द्वैत व घुटन को चित्रित किया गया है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा तथा गोविन्दवल्लभ पन्त मूलत: ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं किन्तु उन्होंने कतिपय सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के सामाजिक उपन्यासों में `आत्मदाह` (१९३७ ई०), `नीलमणि` (१९४० ई०), `नरमेध` (१९५० ई०), `अपराजिता` (१९५२ ई०), `धर्मपुत्र` (१९५४ ई०), `गोली` (१९५६ ई०), `बगुला के पंख` (१९५९ ई०), `खग्रास` (१९६० ई०), `आभा` (१९६० ई०) प्रभृति विवेच्य काल में आते हैं। धर्मपुत्र` हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर आधारित उपन्यास है। `पत्थर युग के दो बुत` आत्मकथात्मक शैली का उपन्यास है। `खग्रास` इस युग की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित उपन्यास है जिसकी प्रेरणा लेखक को प्रथम रूसी स्पुतनिक के अन्तरिक्ष प्रवेश पर दिए गए पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्याख्यान से मिली थी। `गोली` देशी रजवाड़ों में गोले-गोलियों पर होने वाले नृशंस अत्याचार एवं उनके शोषण की ओर `बगुला के पंख` एक अखबारी युवक की कथा है। `आभा` आधुनिक शिक्षित नारी की समस्याओं पर आधारित उपन्यास है। वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक उपन्यासों में `कभी न कभी` (१९४५ई०), `अचल मेरा कोई` (१९४८ ई०), `सोना` (१९५१ ई०), `अमर बेल` (१९५३ ई०), `आहत` (१९६० ई०) और `उदयकिरण` (१९६० ई०) आदि विवेच्य काल की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। `अचल मेरा कोई` सत्याग्रह की पृष्ठभूमि में विधवा-समस्या पर लिखा गया उपन्यास है। `सोना` एक विशिष्ट औपन्यासिक प्रयोग है। इसका कथा-नायक एक कथक्कड़ है। `अमरबेल` सहकारिता के विषय पर लिखा गया वर्माजी का एक श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास है। डॉ० सुरेश सिनहा के मतानुसार वर्माजी के सामाजिक

उपन्यासों में यह कृति का वही स्थान है जो उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में `झाँसी की रानी` (१९४६ ई०) का । दोनों ही उपन्यास उनकी उपन्यास-कला के दो छोर हैं ।[1] गोविन्दवल्लभ पन्त के सामाजिक उपन्यासों में ~~जूनिया~~ `जूनिया` (१९३८ ई०), `यामिनी` (१९५३ ई०), `नौजवान` (१९५४ ई०), `जल समाधि` (१९५५ ई०), `मैत्रेय` (१९५६ ई०) `फारगेट मी नाट` (१९६० ई०) और `कागज़ की नाव` (१९६०) आदि उल्लेखनीय हैं ।

ऋषभचरण जैन के उपन्यासों में समाज का नग्न चित्रण मिलता है । `चम्पाकली` (१९३७ ई०), `हिज हाइनेस` (१९३७ ई०), `बुर्दाफरोश` (१९३८ ई०), `हर हाइनेस` (१९३८ ई०) और तीन इक्के (१९३९ ई०) आदि उपन्यास वेश्या-जीवन व्यभिचार, विलासिता, जुआरी और शराबी-जीवन पर आधारित उपन्यास हैं ।

राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यासों में `राम-रहीम` (१९३७ ई०) गांधी-टोपी` (१९३८ ई०), `पुरूष और नारी` (१९४० ई०), टूटा तारा` (१९४१) `देव और दानव` (१९४५ ई०), `नारी एक पहेली` (१९५० ई०), `सूरदास` (१९५०) `पूरब और पश्चिम` (१९५१ ई०), `चुंबन और चांटा` (१९५६ ई०) आदि विवेच्य काल में आते हैं । औपन्यासिक कला की दृष्टि से इनके उपन्यास सामान्य कोटि के हैं ।

द्वारिकाप्रसाद एम० ए० द्वारा लिखित `घेरे के बाहर` (१९४७ ई०) कुमार नामक एक युवक का अपनी पत्नी प्रेमलता तथा चचेरी बहन नीरा के साथ का यौनाचार चित्रित करता है । उसका नायक जब भी अवसर मिलता है, पत्नी की आँख बचाकर नीरा के साथ सम्भोग में प्रवृत्त हो जाता है । सम्भोग का चित्रण संकेतों द्वारा न कर खुल्लमखुल्ला किया गया है । अस्तु, यह उपन्यास रति सम्बन्धी जानकारी देनेवाली कामशास्त्र की बाजारू पुस्तक से ज्यादा कुछ भी नहीं है ।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने सामाजिक एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं । उनके अधिकांश उपन्यास `वि` अक्षर से शुरू होते हैं । `विजय` (१९३७ ई०), विकास` (१९३८ ई०), `बयालीस` (१९४८ ई०), `विसर्जन` (१९५० ई०)

---

१. `हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास` : डॉ० सुरेश सिनहा : पृ० ३०२ ।

`विषमुखी` (१९५७ ई०), `वेदना` (१९६० ई०), `विश्वास की बेदी पर` (१९६०) आदि उपन्यास विवेच्य काल में आते हैं। `विश्वास की बेदी पर` उपन्यास में उन्होंने भावी चीनी आक्रमण (१९६२ ई०) का संकेत दे दिया था जो उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण है। `बयालिस` और `विसर्जन` गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास हैं। `विकास` में पूर्वदीप्ति क (Flash-back style) का आंशिक प्रयोग हुआ है। `विजय` और `वेदना` नारी-जीवन पर आधारित उपन्यास हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा `कौशिक` का विवेच्य काल में केवल एक उपन्यास मिलता है --- `संघर्ष` जो उपन्यास के शिल्प व वस्तु की दृष्टि से साधारण-सा है। `प्रभावती` (१९४५ ई०), `चोटी की पकड़` (१९४६ ई०), `काले कारनामे` (१९५० ई०), `बिल्लेसुर बकरिहा` (१९५१ ई०) तथा `कुल्लीभाट` (१९५१ ई०) आदि `निरालाजी के उपन्यास हैं जिन में अन्तिम दो हास्य रस के हैं जो संस्मरणात्मक शैली में लिखे गये हैं। उषादेवी मित्रा के उपन्यासों में `वचन का मोल` (१९३७ ई०), `अपने पिया` (१९३७ ई०), `जीवन की मुस्कान` (१९३९ ई०), `पथचारी` (१९४०ई०), `आवाज़` (१९४६ ई०), `सोहिनी` (१९४९ ई०), `नष्ट नीड़` प्रभृति मुख्य हैं जो नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं पर आधारित है। `अपने पिया` एक १४० पृष्ठीय लघु उपन्यास है जिसकी नायिका नीलिमा अपनी छोटी बहिन के पति से गर्भिणी होकर अन्त में आत्महत्या का सहारा लेती है। इसमें लेखिका ने समाज की सामन्त-कालीन पुरूषप्रधान रूढ़ मान्यताओं पर प्रहार किये हैं और नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता के स्वरों को सर्वप्रथम सशक्त शब्दों में उद्घोषित किया है। `जीवन की मुस्कान` उपन्यास की नायिका पूरबी का जन्म ही वेश्यालय में होता है । संक्षेप में इन सभी उपन्यासों में नारी-स्वतन्त्रता और समाज में उसके उचित स्थान का आह्वान मिलता है।

विष्णु प्रभाकर भी इस काल के एक उल्लेख्य उपन्यासकार हैं। इनके दो उपन्यास इस काल खण्ड में आते हैं ---`निशिकान्त` (१९५५ ई०) व `तट के बन्धन` (१९५५ ई०)। डॉ० रणवीर रांग्रा के मतानुसार ``निशिकान्त` में कमला के रूप में लेखक ने हिन्दी उपन्यास को एक ऐसा सशक्त नारी पात्र दिया है, जो समाज से सीधे टक्कर लेकर कठोराति-कठोर प्रहारों को भी हिम्मत से झेल लेती है, उनके आगे झुकती नहीं, टूटती भी नहीं। अपनी निर्भीकता और आत्म-निर्भरता

अपनी निर्भीकता और आत्म-निर्भरता के कारण कमला बरबस शरत् के 'शेष प्रश्न' की नायिका कमल की याद दिलाती है।"[1]

(२) समाजवादी उपन्यास

सामाजिक और समाजवादी दोनों प्रकार के उपन्यास सामाजिक यथार्थ को रेखांकित करने वाले उपन्यास हैं, परन्तु जहाँ सामाजिक उपन्यासों की कोई निर्दिष्ट दृष्टि नहीं होती वहाँ समाजवादी उपन्यासों में यथार्थ को निरूपित करने वाली प्रगतिवादी -- मार्क्सवादी दृष्टि रहती है। प्रत्येक युग में और प्रत्येक वस्तु और पदार्थ में दो शक्तियों का द्वन्द्व निरन्तर चलता ही रहता है। मार्क्स ने इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नाम दिया है।[2] समाजवादी उपन्यासों में समाज की समस्याओं का निरूपण इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ध्यान में रखकर किया जाता है। समाजवादी उपन्यासकार सर्वहारा वर्ग का चितेरा होता है। दलित, पीड़ित एवं शोषित वर्ग में नयी चेतना उजागर कर उन्हें संघर्ष के लिए तैयार करना उनका उद्देश्य होता है। वे सब प्रकार के शोषणों का विरोध करते हैं, परन्तु शोषण के मूल में है आर्थिक असमानता। अत: इस असमानता की दीवारों को सबसे पहले ढहाना चाहते हैं। पूँजीवाद ही नहीं बल्कि उसे पोषित करने वाली सभी सड़ी-गली, पुरानी मान्यताओं व परम्पराओं के प्रति उनमें विद्रोह की भावना मिलती है। ईश्वर के प्रति आस्था, भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद आदि सभी मान्यताएं प्रकारान्तर से व्यक्ति को कमजोर बनाकर उसे संघर्षशील होने से रोकती हैं। गरीब और शोषित यदि सोचें कि उसकी नियति ही दर दर की ठोकरें खाना है तो वह कभी संघर्ष के प्रति उन्मुख नहीं होगा। अत: मार्क्सवाद में इन सब के प्रति घोर अनास्था का भाव मिलता है। स्त्री और पुरूष के बीच भी कोई विभाजक रेखा मार्क्सवाद नहीं खींचता। सौन्दर्य विषयक दृष्टि भी उसकी जनवादी है। मार्क्सवादी जनजीवन में ही सौन्दर्य देखता है।[2] आर्थिक असमानता के मार्ग में सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियाँ और विसंगतियाँ अवरोधक होती हैं। अत: समाजवादी उपन्यासों में समाज व धर्म के ठेकेदारों का पर्दाफाश करने की प्रवृत्ति भी बलवती दिखायी पड़ती है।

---

१. 'हिन्दी उपन्यास' : सं० डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ. २७३-२७४ ।

२. 'यथार्थवाद' : डा० शिवकुमार मिश्र : पृ० ८८-८६ ।

इस वर्ग के उपन्यासकारों ने अपनी कथावस्तु अधिकांशतः मध्यवर्ग से ली है। "मध्य वर्ग एक अजीब वर्ग है। वह अपनी झूठी शान, काल्पनिक गरिमा और आर्थिक खोखलेपन के बीच अजब हारा हुआ-सा, कुंठित-सा दिखाई पड़ता है। द्वन्द्व का सबसे बड़ा शिकार वही होता है। जीवन की असंगतियाँ और काम-कुंठाएं वहीं अधिक दिखाई पड़ती हैं।"[1] काल्पनिक व झूठा आदर्श सामाजिक यथार्थ की सही तपिश और तिक्तता को रूपायित करने में असमर्थ है, अतः समाजवादी उपन्यासों में उसके अस्तित्व की अस्वीकृति स्वाभाविक ही है।

प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है।[2] अतः समाजवादी उपन्यास भी सोद्देश्य होते हैं। परन्तु सोद्देश्यता और प्रचार के बीच की विभाजक रेखा का ध्यान साहित्यकार को सदैव रखना चाहिए। जहाँ सोद्देश्यता उपन्यासों को जीवन से जोड़ देती है वहाँ प्रचार उसकी कलात्मकता को खण्डित करता है। समाजवादी उपन्यासकार जहाँ भी इस प्रचार से मुक्त रहे हैं, वहाँ उन्होंने अपनी सृजन-प्रतिभा के साथ अच्छा न्याय किया है। अब हम इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनके उल्लेखनीय उपन्यासों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

यशपाल[3] : समाजवादी उपन्यासकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं यशपाल। उनकी दृष्टि में कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का आकलन है और वे साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में गहरी आस्था रखते हैं। अपने उपन्यास 'देशद्रोही' की भूमिका में उन्होंने लिखा है -- "लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने में ही है। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है।"[4] विवेच्य काल में उनके 'दादा कामरेड' (१९४१ ई०), 'देशद्रोही' (१९४३ ई०), 'पार्टी कामरेड' (१९४६ ई०), 'मनुष्य के रूप' (१९४९ ई०), 'झूठा सच' (१९५८-६० ई०) आदि उपन्यास मिलते हैं।

'पार्टी कामरेड' और 'देशद्रोही' में साम्यवादी जीवन-दर्शन को सीधे ही आरोपित किया है। 'मनुष्य के रूप' उनका अपेक्षाकृत प्रौढ़ उपन्यास है जो नारी-शोषण के बदलते हुए रूप को रेखांकित करता है। परन्तु यशपाल की

४. 'देशद्रोही' : यशपाल : भूमिका।

१. 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' : डा० रामदरश मिश्र : पृ० ११७।

२. 'यथार्थवाद' : डा० शिवकुमार मिश्र : पृ० ३२। ३. उनका देहान्त दि० २६-१२-७६ को हुआ।

प्रौढ़तम रचना और उनकी अक्षय कीर्ति का आधार है 'झूठा सच'। दो भाग और बारह सौ पृष्ठों में फैले हुए इस महाकाय उपन्यास में यशपालजी नेसंक्रान्तिकालीन भारत का बड़ा ही जीवन्त चित्र अंकित किया है। भारत-विभाजन के पूर्व की राजनीतिक-सामाजिक पीठिका, भारत-विभाजन की विभीषिका और उसके भयंकर परिणामों का बड़ा ही हृदयद्रावक और विशद चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। लाहौर और उसमें स्थित भोला पांधे की गली का चप्पा-चप्पा उभर कर सामने आया है।

यह उल्लेखनीय है कि इसका प्रथम भाग जितना कलात्मक एवं मार्मिक है, उतना दूसरा भाग नहीं। निस्संगता एवं दृश्य-चयन की सूक्ष्मता ने उनकी अनुभूतिगत प्रामाणिकता को शतशः बढ़ा दिया है। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वर्ग के लोगों द्वारा किये गये अमानवीय व्यवहारों का तटस्थ चित्र इसमें मिलता है। लेखक की मार्क्सवादी दृष्टि भी प्रथम भाग में खुलकर सामने नहीं आयी है जो कि दूसरे भाग में दृष्टिगोचर होती है।

तारा, असद, जयदेवपुरी, सोमराज, गिल, नैयर, हाफिजजी, सूद साहब, मिसेज अगरवाला आदि अनेक पात्रों द्वारा लेखक ने तत्कालीन (सन् १६४२ से विभाजन तथा उसके कुछ वर्ष बाद तक के) भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक नैतिक चेतना को ही नहीं उभारा है, प्रत्युत मानवीय व्यवहार के दम्भ एवं नेताओं की स्वार्थपटुता की भी बखिया उधेड़ी है। पूँजीपति कांग्रेस परिवारों में ऐसी अनेक मिसेज अगरवाला जैसी नारियाँ मिल सकती हैं जो केवल सभा-समारोहों में ही खद्दर की साड़ियाँ पहनती हैं और जो गांधीजी जैसे महान् नेता की श्मशान-यात्रा में भी भरपेट नास्ता ठूँसकर जाती हैं। लेखक ने यत्र तत्र कांग्रेसियों पर गहरे व्यंग्य भी किए हैं, यथा --'कांग्रेसियों ने गांधीजी से एक ही बात सीख ली है कि चाहे जिस लड़की या स्त्री के कन्धे पर हाथ रख लें। सभी अपने को राष्ट्रपिता समझने लगे हैं।'[१]

'झूठा सच' देश ही नहीं व्यक्तित्वों के खण्डित होने की भी कहानी है। प्रारम्भ का प्रतिभासंपन्न, आशास्पद एवं आदर्शसेवी पुरी रोजी-रोटी की टूटकर

---

१. 'झूठा सच' : यशपाल : पृ० २४७।

और बाद में विस्थापित होकर एक सामान्य भ्रष्ट नेता के रूप में उभरता है। वह स्वयं कनक से प्रेम-विवाह करता है, परन्तु उसकी बहिन तारा जब असद से प्रेम करती है तब उसका विरोध करता है। यह मध्यवर्गीय समाज का जीता- जागता सत्य है जो बदलते जीवन-मूल्यों के द्वन्द्व का सशक्त उदाहरण है।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार इस उपन्यास का नामकरण अत्यन्त सार्थक है। "इसमें जो कुछ हम कल्पना नहीं कर पाते, वही सच है और जिसकी सत्यता हम निरन्तर प्रमाणित करते रहते हैं, वही झूठ साबित हो जाता है। किसने सोचा था कि शताब्दियों से स्थापित मान्यताएं एवं जीवन-पद्धतियां इस प्रकार एक घोषणा मात्र से झूठ साबित हो जाएंगी और सारी मनुष्यता दिशाहारा की भांति भटकने के लिए विवश हो जाएगी। और किसने इस बात की कल्पना की थी कि वह घृणा, हिंसा, अनैतिकता तथा पड़ोसी द्वारा पड़ोसी की हत्या, अपनी ही माँ -बहिनों का विदेशी आततायियों के हाथों नहीं, अपने ही आत्मीय, भाई, बुजुर्ग, रिश्तेदार के हाथों से सतीत्व मिट्टी में मिल जाएगा और उनकी सारी पवित्रता, मर्यादा एवं प्रतिष्ठा मिटाकर जीवन भर के लिए कलंक और एवं तिल-तिलकर मरने के लिए घृणास्पद अतीत धरोहर में दे दिया जाएगा।"[१] अतः यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में हमें सर्वप्रथम विभाजन की दुखद ट्रेजडी का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है।

<u>नागार्जुन</u> : बिहार और विशेषतः मिथिला की धरती की कथा- व्यथा और उसकी महक हमें नागार्जुन के उपन्यासों में मिलती है। उन्होंने अपने उपन्यासों में शोषक जमींदारों पर निर्मम प्रहार किए हैं और पूंजीवादी तथा सामन्तवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना को जगाया है। 'गोदान' का 'गोबर' अब अपने बदले हुए तेवरों के साथ 'बलचनमा' के रूप में आया है। उनके सन् १९६० के पूर्ववर्ती काल कै उपन्यासों में 'रतिनाथ की चाची', (१९४८ ई०), 'बलचनमा' (१९५२ ई०), 'नई पौध' (१९५३ ई०), 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४ ई०), 'दुःखमोचन' (१९५७ ई०), 'वरुण के बेटे' (१९५७ ई०), 'कुंभीपाक' (१९६०ई०), प्रभृति उल्लेखनीय हैं।

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' ? डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ० ८३।

`रतिनाथ की चाची` एक विधवा ब्राह्मणी की विवशता, गरीबी और शोषण की कहानी है। रात्रि के अन्धकार में एकान्त का लाभ लेकर उसके सतीत्व को भंग करने वाला तथा उस पर कलंक लगाने वाला उसका देवर स्वयं है यह जानते हुए भी रतिनाथ की चाची मौन रहती है। इसमें लेखक ने उच्च वर्ग के लोगों के प्रति व्यंग्य भी किए हैं। बुधना चमार की औरत कहती है --` हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ-आठ नौ-नौ महीने का बच्चा निकालकर फेंक आने का रिवाज नहीं है। और कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का मइया री मइया।`[1]

`बलचनमा` में तो लेखक की समाजवादी चेतना और भी अधिक उभरकर आयी है, जो बलचनमा के इस कथन से स्पष्ट है --` लोगों को जब विश्वास हो जायेगा कि जमींदार महाजन की फाजिल धन-सम्पदा उन्हीं में बंट जायेगी, रोजी-रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई .... बुढ़ापे की बेफिक्री .... खानपान और रहन-सहन का ठौर-ठिकाना.... दवा-दारू, पथपानी का इन्तजाम ..... यह सब सभी के लिए सुलभ होगा। दरभंगा के महाराज हों चाहे पटना के लाटसाहब, मुफ्त का खाना किसी को नहीं मिलेगा ..... सब काम करेगा, सब दाम पावेगा। लूल, अपंग, बूढ़, बेकार सबकी जिम्मेदारी सरकार को उठानी पड़ेगी, पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुआ गुलाम नहीं बना सकेगा।`[2]

`बाबा बटेसरनाथ` में औपन्यासिक शिल्प का नवीन प्रयोग हुआ है। पुराना वटवृक्ष उपन्यास के नायक जयकिशन के सामने बाबा बटेसरनाथ के रूप में प्रकट होता है और उसको पिछली तीन पीढ़ियों पर जमींदारों द्वारा किये गये अत्याचारों की कहानी सुनाता है। `वरुण के बेटे` मछुओं के साहसिक जीवन की कहानी है तो `दुखमोचन` में पिछड़े हुए गाँवों में उभर रही नयी चेतना को उजागर किया गया है। इस प्रकार नागार्जुन के प्रायः सभी उपन्यासों में समाजवादी ~~चेतना~~ चेतना मुखर होकर प्रस्तुत हुई है।

<u>रांगेय राघव</u> : साम्यवादी चेतना के सशक्त हस्ताक्षरों में एक रांगेय राघव भी हैं। उनके उपन्यासों की संख्या लगभग तीस के आसपास

---

१. `रतिनाथ की चाची` पृ० : नागार्जुन : पृ० २३।

२. `बलचनमा` : नागार्जुन : पृ० १६४।

है, जिनमें `घरौंदे` (१९४ ई०), `विषादमठ` (१९४६ ई०), `हुजूर` (१९५२ ई०), `सीधासादा रास्ता` (१९५५ ई०) आदि इस धारा के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। रांगेय राघव आगरा निवासी थे और उनका जन्म सन् १९२३ ई० और निधन सन् १९६२ ई० में हुआ। ३९ वर्ष की इस अल्पायु में उन्होंने जितना विपुल साहित्य दिया, उससे भारतेन्दु की स्मृति ताजा हो जाती है। उनका अध्ययन बहुमुखी था। `प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड` नामक ग्रन्थ में उन्होंने प्रगतिवाद की संकीर्णता एवं एकांगिता की भर्त्सना की है और यथार्थ की सर्वांगीणता पर बल देते हुए मानवतावाद को ही प्रगतिवाद का सही लक्ष्य सिद्ध किया है। कालेज जीवन पर आधारित उनके प्रथम उपन्यास `घरौंदे` में अपरिपक्वता के बावजूद उनकी प्रतिभा के अंकुर स्पष्ट नज़र आते हैं। `विषादमठ` बंगाली-जीवन का करुणतम चित्र है जो बंकिम के आनन्दमठ` की प्रतिक्रिया के रूप में आया है। रांगेय राघव में यह प्रवृत्ति बहुत जोरदार है। उनका सीधा सादा रास्ता भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` के प्रत्युत्तर में लिखा गया है[१] जो हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में एक नया एवं स्तुत्य प्रयास है। जिसमें उपन्यास के माध्यम से किसी अन्य उपन्यास में अभिव्यंजित जीवन-दर्शन की आलोचना करने का सफल प्रयास किया गया है। `हुजूर` में भी यह प्रयोगात्मक वृत्ति लक्षित होती है। `हुजूर` का एक छोटा पर सुसंगठित उपन्यास है जिसमें

---

१. `प्रस्तुत उपन्यास अपने ढंग की एक नयी चीज़ है। मैंने श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` के आगे इसे लिखा है। मेरा उपन्यास अपने आप में स्वतन्त्र है। इसका केवल एक सम्बन्ध अपने पूर्ववर्ती उपन्यास से है कि मेरे पात्र, उनकी परिस्थितियां, सामाजिक व्यवहार, घर, भूगोल, संपत्ति सब वही है जो `टेढ़े-मेढ़े रास्ते की कहानी है, वह सब गुजर चुका है। जब उसकी आवश्यकता पड़ती है तो वह चिन्तन बनता है, पूर्वस्मृति बनती है।... मैं नहीं कह सकता कि मैंने पहले उपन्यास का उत्तर लिखा है।.... जैसा जो वर्माजी का पात्र है, उसको मैंने वैसे ही लिया है, पर वर्माजी ने चित्र का एक पहलू दिखाया है, मैंने दूसरा भी।
: `सीधा सादा रास्ता` : रांगेय राघव : भूमिका से।

कुत्ते की आत्मकथा द्वारा मानव-शोषण की भीषणता को रेखांकित किया गया है।

अन्य समाजवादी लेखक : भैरवप्रसाद गुप्त उग्र समाजवादी लेखकों में आते हैं। उनके उपन्यासों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर वर्ग-संघर्ष का चित्रण उपलब्ध होता है। सर्वहारा वर्ग के शोषण के प्रति उग्र विरोध उनके उपन्यासों में मिलता है। 'मशाल' (१९५१ ई०), 'गंगा मैया' (१९५३ ई०) और 'सत्तो मैया का चौरा' (१९५९ ई०) आदि उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं। गुप्तजी द्वारा निरूपित समाज एवं उसकी परिस्थितियां यथार्थ की मनोभूमियों को स्पर्श करती हैं, किन्तु साम्यवादी चिन्तन से प्रेरित उनके हल उनके उपन्यासों की विश्वसनीयता को कुछ कम करते प्रतीत होते हैं।

प्रेमचन्द के सुपुत्र अमृतराय भी इस धारा के एक सशक्त उपन्यासकार हैं। उनके तीन उपन्यास उल्लेखनीय हैं -- 'बीज' (१९५३ ई०), 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत'। बीज में लेखक ने सन् १९४२ के आसपास का चित्र खींचा है और सत्यवान और वीरेन्द्र के माध्यम से साम्यवादी विचारधारा का प्रचार किया है। 'हाथी के दाँत' में एक सामन्त का व्यंग्य चित्र अंकित है जिसने आज़ादी के बाद देश-सेवक का मुखौटा पहन लिया है।

लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा की प्रारम्भिक कृतियाँ साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित थीं परन्तु बाद में उनमें सैद्धान्तिक कट्टरता कम होती गई है। श्री लाल के उपन्यासों में 'धरती की आँखें' (१९५१ ई०), 'बया का घोंसला और सांप' (१९५३ ई०), 'काले फूल का पौधा' (१९५५ ई०), 'रूपा-जीवा' (१९५९ ई०) प्रभृति उल्लेखनीय हैं। श्री यादव भी नयी पीढ़ी के उभरते हुए सशक्त कथाकार हैं। 'प्रेत बोलते हैं' (१९५२ ई०), [1] 'उखड़े हुए लोग' (१९५६) 'कुलटा' (१९५८ ई०), 'शह और मात' (१९५९ ई०) आदि इनके विवेच्य काल के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। 'सारा आकाश' (१९६० ई०) मध्यवर्गीय जीवन-संघर्ष एवं कुण्ठाओं को चित्रित करता है। 'कुलटा' की चर्चा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अन्तर्गत की जाएगी।

इनके अतिरिक्त उदयराजसिंह कृत 'भूदानी सोनिया' (१९५७ ई०), दयानाथ झा कृत 'जमींदार का बेटा' (१९५९ ई०), नागार्जुन कृत 'कुंभीपाक' (१९६०)

---

१. यही उपन्यास सन् १९६० में संशोधित रूप में 'सारा आकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' कृत 'चढ़ती धूप' (१६४५ ई०), 'उलका' (१६४७ ई०), 'नयी इमारत' (१६४७ ई०) प्रभृति इस धारा के प्रमुख उपन्यास हैं।

लक्ष्मीकान्त वर्मा के उपन्यास 'खाली कुरसी की आत्मा' (१६५८ ई०) में सारी कथा कथा कुरसी की जबानी कही गई है जो अपने सम्पर्क में आने वाले अनेक व्यक्तियों कीपोल खोलती जाती है और इस प्रको कथानक का पट बुनता जाता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में "निम्न मध्य वर्ग के मनोविज्ञान को उसकी समस्त गहराइयों में अंकित करना 'खाली कुर्सी की आत्मा' की पहली और सबसे बड़ी विशेषता है।..... इस कृति का महत्व इसलिए और भी ~~बढ़ जाता है~~ अधिक है कि उसमें प्रयोग की कई नयी और अछूती सम्भावनाएं विकसित हुई हैं।"[१]

उपर्युक्त लक्ष्मीकान्त वर्मा, राजेन्द्र यादव , लक्ष्मीनारायण लाल की भांति धर्मवीर भारती में भी साम्यवादी मतवमद का आग्रह नहीं मिलता। इस प्रकार क प्रगतिवाद की रूढ़ मान्ताओं के अनुसार उनकी गणना प्रगतिवादी लेखकों में नहीं हो सकती, परन्तु वे स्वयं को प्रगतिवादी मानते हैं। वे यथार्थ की समग्रता में विश्वास करते हैं। उन्होंने अपने विवेचनात्मक ग्रन्थ 'प्रगतिवाद: एक समीक्षा' में साफ लिखा है-- "हम अपनी अनुभूति और अपनी आत्मा के अलावा किसी भी पार्टी का अनुसाशन मानने के लिए तैयार नहीं। हमें अपनी आदमियत पर विश्वास है, हमें अपनी ईमानदारी पर भरोसा है, सत्य के प्रति, मानव की अपनी प्रजा भावना पर यकीन है। हम अपना रास्ता खुद ढूँढना पसन्द करेंगे।"[२]

अत: भारती जी के 'सूरज का सातवां घोड़ा' का उल्लेख भी हम यहां सुविधा को ध्यान में रखकर करते हैं। इस उपन्यास का महत्व उसकी शैली एवं शिल्प के कारण और भी बढ़ गया है। शिल्प की नवीनता कथा-साहित्य की किसी अधुनातम तकनीक के कारण नहीं, बल्कि कहानी-दर-कहानी वाली पंचतन्त्रात्मक कथा-सााहित्य की आदि शैली को यथार्थ के नये आयामों से सन्दर्भित कर देने के कारण है। अज्ञेयजी के अनुसार इसमें एक कहानी में अनेक कहानियों नहीं हैं, प्रत्युत अनेक कहानियाँ में एक कहानी है।[३] सात दोपहरों में माणिक मुल्ला द्वारा कभी गई सात निष्कर्षवादी

---

१. 'हिन्दी नवलेखन' :डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० १८८-२६। २. 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' : डॉ० धर्मवीर भारती : पृ०२१७। ३. 'सूरज का सातवां घोड़ा' : भूमिका से।

कहानियाँ तानों-बानों की तरह गूँथकर एक कथा का निर्माण करती हैं। समाज के नग्न यथार्थ को माणिक मुल्ला, तन्ना, जमुना, सत्ती, लिली, रामधन जैसे पात्रों द्वारा व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित कर देने के बावजूद भी लेखक का विश्वास मानवीय-निष्ठा में तनिक भी कम नहीं हुआ है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जीवन के प्रति अदम्य एवं अडिग आस्था का ही प्रतीक है।

केशवचन्द्र वर्मा की कथा-कृति 'काठ का उल्लू और कबूतर' (१९५५ ई०) कथा-शिल्प के क्षेत्र में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के अधिक सन्निकट है। अनेक रातों तक चलने वाली किस्सागोई का यह नया संस्करण है। उसमें लेखक ने किंचित हास्य के साथ मध्य-वर्ग का सुन्दर चित्रण किया है। उसकी प्रतीक योजना तथा सैटायर प्रभावपूर्ण है।

(३) आंचलिक उपन्यास

एक विशिष्ट भूभाग, अंचल या जनपद को उभारने के उद्देश्य से लिखित उपन्यासों को आंचलिक कहा गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४ ई०) के प्रकाशन के बाद इस आंचलिक विधा का चौमुखी विकास हुआ है। डा० रणवीर रांग्रा के मतानुसार "स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब देश की एकाग्रता भंग हुई और देशोद्धार की अपेक्षा आत्मोद्धार की रौ चली, राष्ट्र की एकता को फोड़कर विविध प्रदेशों, जातीय वर्गों और धर्मों, संस्कृतियों की अनेकता प्रखर वेग से प्रस्फुटित हुई, तब हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति-वर्ग, धर्म, संस्कृति के संरक्षण और विकास की ओर गया और इस दिशा में सचेष्ट प्रयत्न आरम्भ हुए आंचलिकता के पनपने के लिए यह स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी और आंचलिक उपन्यास की धारा पूर्ण वेग से चली।"[१]

डॉ० रांग्रा के कथन से यह ध्वनित होता है कि आंचलिक उपन्यास प्रान्तीयतावाद की उपज है, परन्तु ऐसा नहीं है। रेणु, नागार्जुन आदि प्रखर मानवतावादी-राष्ट्रवादी लेखक हैं। उपर्युक्त मत के अनुसार तो प्रान्तीय भाषाओं में लिखने वाले हिन्दी लिखने वालों की तुलना में संकुचित एवं प्रान्तीयतावादी ही करार दिए जाएंगे, जबकि इससे विपरीत भी कभी हो सकता है। आंचलिक उपन्यास का लेखक एक विशिष्ट अंचल का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत कर उसे देश या विश्व के मानव-प्रवाह में

१. 'हिन्दी उपन्यास' : डा० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० १९९।

इस प्रकार एकमेव कर देता है कि वह रचना सर्वकालीन एवं सर्वदेशीय शाश्वत कला-तत्वों से जुड़ जाती है। आंचलिक उपन्यासों में भी जहां ऐसा हो पाया है, वहां श्रेष्ठ उपन्यास बन पड़े हैं : जहां ऐसा नहीं हो पाया है, उन्होंने संख्या-वृद्धि मात्र ही की है। इस सन्दर्भ में डा० रामदरश मिश्र का यह मत उल्लेखनीय है -- "आंचलिक उपन्यास की सिद्धि तो एक भूभाग के सारे प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिवेश में वहां के संक्रमणशील जीवन-मूल्यों, संवेदनों और सम्बन्धों को गहराई से उभार ने में है और ये मूल्यों के संघर्ष, संवेदनाएं और मानवीय नियति उस भाग को शेष मानव-समाज से जोड़ते हैं। इसलिए कोई उपन्यास अनांचलिक होकर भी अपनी ऊपरी गतिविधियों के कारण कहीं भी ज़मीन से नहीं जुड़ सकता और कोई उपन्यास एक विशेष भू-भाग का होते हुए भी अपनी भीतरी प्रकृति के कारण सारी मानवता से जुड़ जाता है।"[१] वस्तुत: आंचलिक उपन्यास यथार्थ की नयी क्षितिजों को खोलते हुए आये हैं।

उपन्यास का वातावरण यहाँ अधिक मुखर रूप में आता है। सारे कार्य-व्यापार, वर्णन, गतिविधियाँ अंचल विशेष को केन्द्र में रखकर चलते हैं। अत: उसका शिल्पगत स्वरूप डाक्यूमेन्टरी टाईप का है। वातावरण का चित्रण तो अन्य उपन्यासों में भी होता है परन्तु वहाँ वातावरण पात्रों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जबकि आंचलिक उपन्यास में पात्र तथा अन्य उपकरण वातावरण के लिए पृष्ठभूमि बनाते हैं।

पात्र की भाँति अंचल के व्यक्तित्व के भी दो पहलू होते हैं -- बाह्य एवं आन्तरिक। अंचल-विशेष का वर्णन उसके बाह्य व्यक्तित्व का निर्माण करता है। पात्रों का कार्य-व्यापार, उनके रीति-रिवाज, लोक-संस्कृति आदि उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अत: आंचलिक उपन्यासकार को चाहिए कि उस क्षेत्र विशेष से उसका जीवन्त सम्पर्क हो। तदर्थ आवश्यक क्षेत्र-सर्वेक्षण भी उसे करना चाहिए। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में, "आंचलिक उपन्यासों में अंचल अपनी सम्पूर्ण विविधता और समग्रता के साथ नायक होता है। अंचल के जीवन की सारी परम्पराओं, ऐतिहासिक प्रगतियों, शक्तियों, अशक्तियों, छवियों-अछवियों को जितनी ही अधिक सच्चाई से लेखक पकड़ सकेगा अंचल जीवन के चित्रण में वह उतना ही सफल होगा।"[२] ~~पर लेखक सतही एवं~~ पर लेखक श्री सतही एवं पिकनिकी दृष्टि आंचलिक उपन्यास के

डॉ. रामदरश मिश्र

---

२. "हिन्दी-उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा" : पृ० १८८।

१. "आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि" : पृ० १२६। द्र"

के लिए भयस्थानरूप है ।

आंचलिक उपन्यास उपन्यास की एक भिन्न विधा है । उसका शि:प भी दूसरे उपन्यासों से अलग पड़ता है । घटनाप्रधान सामाजिक उपन्यासों की भांति उसमें किसी घटना या पात्र के आसपास अनेक घटनाओं का सिलसिलेवार गुम्फन नहीं होता, तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति दो-तीन पात्रों का अन्तस्थ मनोविश्लेषणात्मक चित्रण भी नहीं होता । उसमें फैलते हुए समय-फलक पर एक सुनिश्चित स्थिर अंचल का गत्यात्मक चित्र अंकित होता है । उसका उद्देश्य ही किसी पात्र-विशेष को उभारना नहीं, बल्कि जनपद या अंचल को उभारना होता है । अत: 'मैला आंचल' जैसे सफलतम उपन्यास में भी होरी, शेखर या मृणाल जैसा कोई पात्र उभर कर नहीं आता तो उसमें आश्चर्य या अफसोस की कोई बात नहीं । उसमें लेखक अनेक बिन्दुओं से उस अंचल के चित्र को खींचने की कोशिश करता है, अत: कुछ लोगों को उसमें बिखराव या फैलाव दीखता है : परन्तु अंचल के गत्यात्मक समय-फलक को दृष्टि में रखें तो उसमें भी एक प्रकार की अन्त:सूत्रता उपलब्ध होगी । भिन्न भिन्न दृश्य, पात्र, जातियाँ, घटनाएं उस अंचल की भाव-बोध रूपी माला के भिन्न भिन्न मणके हैं और एक सूत्र में बंध कर अंचल के जीवन को रूपायित करने में अपना योग देते हैं ।

कुछ आलोचकों ने आंचलिक उपन्यास में आधुनिक भावबोध की कमी का आरोप लगाया है ।उनके मतानुसार आधुनिक जटिल जीवन को पकड़ने का सामर्थ्य इन उ उपन्यासकारों में नहीं है, अत: वे अपेक्षाकृत पिछड़े हुए वन्य-अंचल या पहाड़ी-अंचल की ओर आकृष्ट हुए हैं ।[१] परन्तु ऐसा कहना अतार्किक ही नहीं, हास्यास्पद भी है । यदि कोई कलाकार नितान्त पिछड़े हुए प्रदेश की सही तस्वीर उतारता है, यथातथ्य रूप में , तो उसे आधुनिक भावबोध से रहित नहीं माना जायेगा । यदि कोई चित्रकार किसी अर्धनग्न, कृषकाय, गन्दी भिखारिन का चित्र बनाता है तो क्या उसका चित्र असुन्दर माना जायेगा ? और यदि कोई आधुनिक फैशनेबुल युवती का चित्र बनाए तो क्या उतने मात्र से वह आधुनिक हो जायेगा ?

---

१. 'नये उपन्यास : स्वरूप और तत्त्व' : सं० डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' : पृ० २००-२०२ ।

वस्तुत: आधुनिक भावबोध का सम्बन्ध विषय-वस्तु से नहीं, प्रत्युत उस दृष्टि से है जो वस्तु को शुद्ध वैज्ञानिक, निरपेक्ष एवं निस्संगता से रूपायित करती है।

आंचलिक उपन्यासों की भाषा लोक बोलियों का पुट लिए हुए रहती है। अधिकांश आंचलिक उपन्यास ग्राम्य, वन्य या पहाड़ी अंचलों को लेकर लिखे गए हैं। नागरिक जीवन में अपरिचित ऐसे कई शब्दों का वहाँ नित्य प्रयोग होता है। स्वाभाविक रूप से ऐसे शब्द आंचलिक उपन्यासों में स्थान पाएंगे ही क्योंकि यह भी उसके शिल्प का एक पहलू रहेगा। तो प्रश्न उठता है कि क्या तब आंचलिक उपन्यासों की भाषा दुरुह नहीं होगी ? बहुत ही अप्रचलित शब्दों के अर्थ फुटनोट में देकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अब इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार तथा उनके सन् '६० तक के उल्लेखनीय उपन्यासों की संक्षिप्त चर्चा हम करेंगे।

नागार्जुन : नागार्जुन के सभी उपन्यास बिहार के किसी न किसी अंचल को लेकर लिखे गए हैं। अत: उन्हें आंचलिक कहा गया है। परन्तु उनका मूल एवं प्रखर-धन तथा प्रमुख स्वर समाजवादी है, अत: उनकी चर्चा समाजवादी उपन्यासों के भीतर की गई है। यह आवश्यक नहीं कि आंचलिक उपन्यास समाजवादी न हो, बल्कि उसकी जनवादी प्रकृति के कारण वह अधिकांशत: समाजवादी ही कहाता है। परन्तु नागार्जुन के उपन्यासों की बुनावट आंचलिक उपन्यासों से थोड़ी भिन्न है। वे प्रेमचन्द- की-सी शिल्प-परम्परा के उपन्यास हैं। नागार्जुन के उपन्यासों की कथा अंचल से ली गई होने पर भी अंचल की नहीं होती है। अत: उसका विकास एक सीधी रेखा में होता है, आंचलिक उपन्यासों की भांति बहुमुखी नहीं। अत: उनमें आंचलिक उपन्यासों की समग्रता, जटिलता, विविधता नहीं होती। फलत: 'मैला आंचल' एवं 'बूंद और समुद्र' जैसा बिखराव उनमें नहीं है।

फणीश्वरनाथ रेणु[१] : विद्रोह एवं भावुक रोमानीपन, सामान्यता-असामान्यता, साम्यवाद-सामन्तवाद का अजब मेल रेणु के व्यक्तित्व में हुआ है। रेणु सिसकती हुई मानवता का लेखक है। बंगला की सरस भावतरलता और हिन्दी के यथार्थ बोध का सुन्दर समन्वय उनमें हुआ है। जीवन की कठोर वास्तविकताओं को हृदय के नाजुक काव्यात्मक तन्तुओं से जोड़ने का

---

१. सुनहरी कलम के धनी रेणु का निधन पिछले साल दिनांक ११-४-७७ को हुआ।

कार्य रेणु ने किया है । उनके साहित्य में कठोरता, करुणा एवं कोमलता का -- दूसरे शब्दों में सत्य , शिव और सुन्दर का -- त्रिवेणी संगम हुआ है । हिन्दी कथा-साहित्य को कवित्वपूर्ण दृष्टि रेणु से ही मिली । यथार्थवाद के नाम पर बढ़ते राजनीतिक दुराग्रह के मतवादी अन्धकार में इस दृष्टि का सर्वथा लोप हो गया था जो साहित्यकार की अमूल्य निधि है । डॉ० नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में "साहित्यकार मानव-आत्मा का शिल्पी होता है कि वह जीवन के काव्य का, उसकी सरसता और सौन्दर्य का, विकृति और विसंगति के पंक के बीच झाँकते -मुसकराते कमल का दृष्टा होता है ।"[१] और मानवता का यह कमल हमें रेणु के साहित्य - सरोवर में सदैव मुसकराता हुआ मिलता है ।

रेणु की कला फोटोग्राफिक है । उनकी अणुवीक्षक दृष्टि रूप, ताल, लय, गंध, गति आदि सभी के चित्र अंकित करती है । रेणु का पाठक कहानी पढ़ता नहीं, देखता है .... एक- एक ध्वनि, एक- एक- गंध, एक-एक रंग को महसूस करता हुआ उसे जीता है । वातावरण-परिवेश जो मात्र कथा-साहित्य का एक तत्व ही माना जाता रहा, कदाचित् सर्वप्रथम जीवित पात्र की तरह अपना सम्पूर्ण हक रेणु से मांगता है ।[२]

"डी०एच० लौरेन्स ने अपने समय के एक नव यथार्थवादी उपन्यास की भूमिका में लेखकका अनुमोदन करते हुए कहा था : आधुनिक सफाई --सैनिटेशन की जड़ में यह बात है कि मानव को मानव की बू असह्य हो गई है ।"[३] रेणुने मानवता की इस 'बू' में एक सोंधी खुशबू को महसूस किया है उसका अहसास हमें उनके साहित्य से हुए बिना नहीं रहता है । मिट्टी की यह सोंधी महक रेणुकी अपनी विशेषता है । ग्रामीण परिवेश उसके समग्र रूप में उनमें अभिव्यक्त हुआ है । ग्रामीण जीवन का ऐसा चितेरा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है । गुजराती के कवि हरीन्द्र दवे ने ठीक ही कहा है कि सभी रेणु नहीं हो सकते । वे तो जन्मजात विद्रोही थे । आपात स्थिति के आने चूप नहीं रह सके, लड़े और जेल गये । पद्मश्री का इल्काब भी लौटा दिया ।[४]

---

१. 'विवेक के रंग' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी : पृ० २११ । २. 'रेणु की श्रेष्ठ कहानियां' : सं० राजेन्द्र यादव : 'प्रमुख स्वर -पृ० ६ । ३. 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' : अज्ञेय : पृ० ६५-६६ । ४.

रेणु का व्यक्तित्व अनेक अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है। अनेक अपूर्णताएं उनमें पूर्णता के लिए कुलबुला रही हैं। हिन्दी में उनका प्रवेश एक धूमकेतु के रूप में हुआ। एक तूफान के मानिन्द वे आये और आयीं साथ में अनेक सच्ची-झूठी चित्र-विचित्र कहानियाँ। एक तरफ यश और दूसरी तरफ लांछनाएं उन्हें बराबर मिलती रहीं। उनके विरोधी गन्दी से गन्दी कहानियाँ प्रचारित करने से बाज नहीं आये -- कि रेणु ने 'मैला आंचल' खुद नहीं लिखा है। यह उपन्यास एक बंगला उपन्यास का उल्था है। रेणु बहुत ओछा आदमी है। रेणु अपनी एक पत्नी की हत्या करके भाग आया है। रेणु चरित्रहीन है, वह बिहार में कहीं मुंह नहीं दिखा सकता, इसलिए इलाहाबाद भाग आया है।'[१] आदि आदि। ऊंचाइयों और नीचाइयों पर रेणु एकसाथ अकेले रहे हैं। उनका व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा है --एक आवारा मसीहा -- जिन के बारे में दोनों तरफ की चाहे जितनी बातें गढ़ी जा सकती है। और फिर हिन्दी मस्तिष्क तो इसमें काफी उर्वर है।

लेखन में वे जितने ही सर्वहारा है, जीवन में उतने ही सामन्ती है। रेणु के नखशिख में सामन्ती रूप झलकता है -- विशुद्ध बिहारी सामन्तशाही का प्रतीक है रेणु। सुन्दर, सांवरा, तराशा हुआ चेहरा-मोहरा, बहुत सेक्सी होंठ, खुमार भरी आंखें और नरम हाथ-पैर देखकर किसी बिहारी जमींदार का आभास होता है।[२] परन्तु लेखन में वे दलित, पीड़ित, शोषित सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि ही जान पड़ते हैं। लेखन-कार्य में डूबे हुए रेणु का चेहरा और आंखे एक विशेष दीप्ति-सी आलोकित रहती हैं पर सामान्य बातचीत के दौरान वे एक मामूली-से आदमी दिखते हैं जिसको मानो साहित्य से दूर का भी रिश्ता नहीं। वे ज्यादातर साहित्यिक चर्चाओं से कतराते हैं। एक तरफ साम्यवादी होने के कारण बुद्धिवादी हैं तो दूसरी तरफ शक्ति के उपासक हैं और तन्त्र-मन्त्र में भी आस्था रखते हैं। इतने भुलक्कड़ कि एक घण्टे पहले ह मिले हुए आदमी को दुबारा मिलने पर भूल जाते हैं पर दूसरी तरफ उपन्यास लिखते समय बीसवें पृष्ठ पर आया कोई पात्र यदि साठ दिन बाद तीन सौ

---

१. 'रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ' : सं० राजेन्द्र यादव : लेख -' मेरा हमदम, मेरा दोस्त' : ले० कमलेश्वर : पृ० १२-१३। २. वहीं : पृ० १४।

पृष्ठ पर फिर आयेगा तो रेणु को यहाँ तक याद रहेगा कि वह पात्र क्या बोला था और क्यों दाँत कुरेदने लगा था ।[1] तीन सौ चालीसवें पृष्ठ पर वह उस पात्र को उसके उन्हीं सूत्रों के साथ ज्यों का त्यों उठा लेगा । कमलेश्वर ने रेणु के व्यक्तित्व की उपममा बरसात में भीगते हुए सेमल के वृक्ष से दी है । काला, काँटेदार तना मानो रेणु का बाहरी व्यक्तित्व है, पर उसके लाल-लाल फूल और उसके फल से नि:सृत होने वाला मुलायम रेशम मानो रेणु का आन्तरिक व्यक्तित्व है ।

रेणु का जन्म ४ मार्च[2] १९२१, पूर्णिया जिले के एक छोटे से गाँव में औराही हिंगना के मध्यवित्त किसान परिवार में हुआ था । शिक्षा फारबिसगंज, विराटनगर (नेपाल) तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई । सन् १९४२ में पढ़ाई को तिलांजलि दे दी और कुछ वर्षों तक सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में काम किया । नेपाल के प्रथम ऐतिहासिक मजदूर -संघर्ष में प्रचार कार्य किया । नेपाल की राजाशाही के खिलाफ सशस्त्र संग्राम में भी भाग लिया था । रेणु की प्रथम कहानी `बटबाबा` सन् १९४६ में साप्ताहिक `विश्वमित्र` में छपी थी । बाद में अनेक वर्षों तक रिपोर्ताज लिखते रहे । नेपाल के संघर्ष के बाद सन् १९५२-५३ में भयंकर बीमारी से ग्रस्त रेणु को मौत की प्रतीक्षा के लिए अस्पताल में पहुँचा दिया गया । सभी ने आशा छोड़ दी थी । तभी लतिकाजी ने उनके जीवन में प्रवेश किया । एक ठूंठ को मानो आशाओं की लता मिल गई । फिर तो रेणु ने मौत को भी चकमा दिया और ऐसा दिया कि कि अब मौत भी उन्हें मार नहीं सकती । `मैला आंचल` और `परती : परिकथा` (१९५७ ई०) यह दो उपन्यास ही रेणु को जीवित रखने के लिए काफी है ।

<u>मैला आंचल :</u> सन् १९५४ का वर्ष हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में एक यादगार वर्ष रहेगा । उसी वर्ष मैला आंचल का प्रकाशन हुआ । प्रेमचन्द के बाद एक लम्बे अरसे तक हिन्दी-उपन्यास को

---

१. `रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ` : सं० राजेन्द्र यादव : लेख- `मेरा हमदम मेरा दोस्त` : कमलेश्वर : पृ० १९ ।

२. रेणु का जब जन्म हुआ था तब उनके परिवार को थोड़ा ऋण लेना पड़ा था । अत: उनकी दादी ने नाम रखा रिणुआ । रिणुआ से रिणु, रुणु और फिर रेणु हो गया ।" : धर्मयुग - १ मई, १९७७ : लेख -" उड़ गया सोने की कलम वाला हीरामन : शानि शा पुष्प)

उन्मुक्त खुला नीला आसमान प्राप्त नहीं हुआ था । अत: `मैला आंचल` के रूप में हिन्दी पाठक को ताज़ी हवा का एक झोंका प्राप्त हुआ । इसके प्रकाशित होते ही आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने आकाशवाणी पर इसकी विस्तृत समीक्षा की और दिनकरजी को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा कि तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो गया है ।[१] इलुस्ट्रेटेड वीकली में पहली बार किसी हिन्दी उपन्यास की समीक्षा हुई । लेखक की पहली ही कृति को इतनी ख्याति व ~~इतना~~- इतना सम्मान मिलने के प्रसंग साहित्य के इतिहास में विरल हैं ।

बकौल रेणु के `मैला आंचल` में "फूल भी हैं, शूल भी हैं, धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चन्दन भी : सुन्दरता है, कुरूपता भी ।"[२] मध्यवर्गीय शहरी जीवन की एकरसता के स्थान पर `मैला आंचल` का प्राकृतिक परिवेश बरबस हमारा मन मोह लेता है । डॉ० नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में `मैला आंचल` "देहाती जीवन पर पिछले दिनों लिखे गये सभी उपन्यासों से भिन्न है, और विशिष्ट भी : क्योंकि अन्य अधिकांश उपन्यासकार देहात की ओर मुड़कर भी जैसे उसे ऊपर से ही देखते रहे, अथवा देहाती जीवन की जड़ता अथवा बाहर से आरोपित संघर्षमयी परिवर्तनशीलता में उलझ गये । एक प्रकार से उन्होंने गाँव के जीवन को मूलत: शहरी दृष्टि से देखा और वे देहात की समस्याओं को शहर के चौखटे में रखकर काटते-छाँटते रहे । देहाती जीवन की आत्मा से उनका साक्षात्कार ही जैसे नहीं हुआ : न उसकी गहरी तिक्तता से, न उसके निर्झर जैसे फूटते सरल काव्यमय सौन्दर्य से । इसी से इन अधिकांश तथाकथित ग्रामीण उपन्यासों में जिन्दगी की धड़कन नहीं महसूस होती, देहात के जीवन की अपनी गति के आभास की तो बात ही दूर की है ।"[३] `मैला आंचल` में लेखक ने देहाती जीवन को अत्यन्त ही आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टि से देखा है ।

`मैला आंचल` में चित्रित जनपद है पूर्णिया जिले का मेरीगंज गाँव, उसके वन-उपवन, नदी-निर्झर, खेत-खलिहान, झाड़-झंखाड़, पशु-पक्षी, विभिन्न

---

१. `धर्मयुग- १ मई, १९७७` : लेख- `उड़ गया सोने की कलम वाला हीरामन` : ले० राजि शा पुष्प । २. `मैला आंचल` : भूमिका से । ३. `विवेक के रंग` : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी : पृ० २०७-२०८ ।

जाति के लोग --यादव टोली, कायथ टोली, (मालिक टोली) ,क्षत्रिय टोली, ततमा टोली (तंत्रिमा)* टोली, पासवान टोली , कोयरी टोली --उनकी बोलियां, आचार-विचार, विश्वास-अन्ध-विश्वास, गीत-नाच, आनन्द-उल्लास, दुःख-दर्द सभी मानो फिल्म के चित्र की भाँति हमारे सामने प्रत्यक्ष होता जाता है। अत्याधुनिक नामकरणवाले इस गाँव में आधुनिकता की एक किरण भी नजर नहीं आती। सदियों से जड़ स्थिर बन्धियार गाँव के माहौल में मलेरिया सेन्टर के खुलने से एक नवचेतन आता है, जैसे शान्त तलैया में किसी ने पत्थर फेंक दिया हो। फिर तो घटनाओं के आवर्तन-प्रत्यावर्तन शुरू हो जाते हैं।

यह उपन्यास दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड का समय आज़ादी के कुछ वर्ष पूर्व का है और दूसरे खण्ड का प्रारम्भ स्वातन्त्र्योत्सव से होता है।लेखक की सूक्ष्म अनाविल क्रान्तदर्शी सूझ-बूझ ने बहुत पहले ही यह देख लिया था कि अशिक्षा और गरीबी के महाअन्धकार में आज़ादी महज़ एक छलावा बनकर रह जायेगी। शोषक और शोषित का दमनचक्र तो निरन्तर जारी ही रहेगा क्योंकि पहले के शोषक ही देशसेवक का मुखौटा धारण कर सामने आजायेंगे। राजनीति में (कांग्रेस में) कैसे कैसे भ्रष्ट लोग प्रवेश पा रहे हैं उसका चित्र हमें बावनदास की मनोव्यथा में मिल जाता है। पहले तो भारत माता विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त होकर रो रही थी, अब तो अपने ही बेटों द्वारा लात-विलात होकर `जार-बेजार रो रही है।`[१]

लेखक स्वयं समाजवादी है परन्तु कहीं भी अपने मतवाद को आरोपित नहीं करता। उसका यह ताटस्थ्य एवं निस्संगता उसकी कला को मार्मिकता प्रदान करता है। आज़ादी के दो-तीन वर्षों में ही रेणु ने बखूबी देख लिया था कि किस प्रकार भ्रष्ट एवं स्वार्थपटु सत्तालोलुप नेतागण बालदेव ,कालीचरण जैसे सीधे-सरल लोगों को स्थानिक नेता बनाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं और वक्त आने पर उन्हें पहचानने से भी कतरा जाते हैं। बावनदास जैसे सिद्धान्तनिष्ठ क्या भला राजनीति में चल सकते हैं। बावनदास की नृशंस हत्या और बाद में अज्ञातरूप से चैथरिया

---

१. `मैला आंचल` : पृ० १३६ ।

पीर` के रूप में उसकी प्रतिष्ठा के पीछे भी लेखक की सूक्ष्म व्यंग्य दृष्टि काम करती है। एक जमाने में अंग्रेजों के पिट्ठू ऐसे तहसीलदार रातोंरात बदलते माहौल को देखकर कांग्रेस पार्टी में महत्वपूर्ण स्थान पैसों के बल पर हासिल कर लेते हैं, क्योंकि वे `चवन्निया` मेम्बर थोड़े ही हैं। सुमरितदास `बेतार` के रूप में लेखक ने आज़ादी में के बाद उभरकर आने वाली एक खास बिरादरी की ओर संकेत किया है --खुशामदखोर, गुलाटबाज चमचों की बिरादरी। इस सम्बन्ध में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह मत उल्लेखनीय है --" राजनीतिक उपन्यासों की सबसे बड़ी त्रासदी, विशेषत: हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में यह है कि लेखक अपने को तटस्थ नहीं रख पाता और किसी-न-किसी मतवाद का शिकार बन जाता है और किसी राजनीतिक विचारधारा का पक्षधर। x x - - (लेकिन) रेणु की विशेषता यह रही है कि `मैला आंचल` में उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ा सन्तुलित चित्रण किया है। न किसी को ऊपर उठाने की कोशिश की है न किसी को सायास नीचे गिरानेकी। वस्तुत: जिस घुटन-भरी ज़िन्दगी की कशमकश उन्होंने चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण इतना घुलमिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता।"[1]

`मैला आंचल` का मुख्य प्रवाह तो है उस अंचल विशेष का समग्र सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन, जहाँ जीवन के अनेक दु:ख-दर्दों के बीच भी आनन्द-उल्लास की बांसुरी बज रही है। `लोरिक` और `विज्जैभान` की गीत-कथा, कीर्तन और विदापत नाच` -- अंचल-जीवन में प्राणवायु का काम करते हैं। अनेक पात्र, अनेक घटनाएं, अनेक दृश्य, एक-दूसरे को काटते हुए, आड़ी-तिरछी बरसाती नदी की भांति हहराते हुए चले जाते हैं। कोई भी पात्र व प्रसंग अधिक समय के लिए नहीं ठहरता, सभी ~~आते-हैं-~~ अंचल के जीवन को गति देने आते हैं और यही लेखक का उद्देश्य भी है। तहसीलदार, रामकिरपालसिंह, रामखेलावन, बालदेव, लछिमी, जोतिखी काका, महंथ सेवादास, रामदास, कालीचरन, चरखा मास्टरनी, डॉ० प्रशान्त, कमली, बावनदास आदि सभी पात्र अपने मानवीय रूप में सबलता-निर्बलता के साथ व्यंजित हुए हैं। मानव-जीवन की कुत्सित प्रवृत्तियों का चित्रण भी तटस्थता के साथ -- बिना नैतिक-अनैतिक

---

१. `हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ` : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ० ६४।

के पचड़े में पड़े -- किया गया है। महन्त सेवादास, रामदास, लरसिंघ, नंगा बाबा आदि लछिमी के पीछे पड़े हैं। लछमी बालदेव पर आसक्त है। रमपियरिया की माँ सात बेटों के बाप कीत्त से फंसी है। फुलिया माँ के आग्रह एवं सम्मति से सहदेव मिसर की आग बुझाती है। इस सम्बन्ध में रमजूदास की पत्नी फुलिया की माँ से तो यहाँ तक कहती है कि "तुम लोगों को न तो लाज है न शरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारी वाली साड़ी चमकाओगी ? आखिर एक हद होती है किसी बात की। मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दुहो कि देह का खून ~~स~~ भी सूख जाय।"[1] इस पर फुलिया की माँ बिगड़ जाती है और उसकी पोल खोलते हुए कहती है कि वह अपने खास भतीजे के साथ भाग गयी थी और ~~कुम्हर~~ गुआर टोली के ~~कलरु~~ के साथ रात-भर 'रासलीला' रचाती रहती थी। रमजू की स्त्री फुलिया की माँ को 'सिंघवा की रखेली' कहती है। नोखे की स्त्री रामलगनसिंह के बेटे से फँसी हुई है और उचितदास की बेटी कोयर टोली के सटकन महतो से। नया तहसीलदार हरगौरी सिंह अपनी मौसेरी बहन से रासलीला रचाता है। लरसिंघ सोनमतिया कहारिन की रधिया को उड़ा ले जाता है। जोतखीजी कालीचरण को चुनौती देते हैं कि कि वह अपनी माँ से पूछकर बताए कि कि वह किसका बेटा है। कालीचरण भला क्यों चूकता ? वह उत्तर में कहता है कि वे अपनी पत्नी से पूछे कि उसके पेट में किसका बेटा है। कालीचरण चरखा मास्टरनी मंगलादेवी के प्रेमपाश में फँस जाता है तो डॉ० प्रशान्त और कमली (तहसीलदार की बेटी) प्रेमसूत्र में बंधकर विवाह के पहले ही ~~शारि~~ शारीरिक सम्बन्ध जोड़ बैठते हैं। वस्तुत: गाँव के उन्मुक्त वातावरण में यह बातें चौंकाने वाली न लगकर सहज ही लगती हैं। कदाचित यही कारण है कि ग्रामीण जीवन में मनोविकारजनक मानसिक ग्रन्थियाँ कम मिलती हैं।

परन्तु इन सबके उपरान्त रेणु की ~~दृष्टि~~ दृष्टि मानवीय संवेदनाओं के बिन्दुओं को तलाशती है। डॉ० प्रशान्त जो बुद्धिवादी होने के कारण पहले हृदय की सत्ता को नकारता है,[2] बाद में मौसी, कमली, गणेश, संथाल तथा अन्य

---

१. 'मैला आँचल' : पृ० ६२-६३।

२. वही : पृ० ४४६।

दीन-हीन सदियों से प्रताड़ित लोगों के सम्पर्क से दिल और उसके दर्द को न केवल पहचानता है, प्रत्युत उसके अभाव में वह मानवीयता पर ही प्रश्न चिह्न लगाता है।[1] डॉ० ममता पर लिखे उसके पत्र में उन लोगों के प्रति, उस मिट्टी के प्रति, उसका जो ममत्व है वह झलकता है। डॉ० प्रशान्त ने ग्रामीण जीवन के दर्द की सही नब्ज को पकड़ा है। एनोफिल्स और सैण्डफ्लाई से भी ज्यादा जहरीले और भयंकर कीटाणु हैं गरीबी और जहालत जो घुन की तरह उनके जीवन के साथ लगी हुई हैं।[2] डॉ० ममता भी मानव की ही शक्ति में सर्वाधिक विश्वास करती हैं और सबसे ऊपर 'मानुस सत्य' की स्थापना करती है।[3] उपर्युक्त उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत कृति में रेणु का जनवादी स्वर अत्यन्त सशक्त होकर उभर सका है जो उनके साहित्य को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है।

अपनी द्वितीय कृति 'परती :परिकथा' (१९५७ ई०) में रेणु ने आंचलिक उपन्यास के शिल्प का अधिक सायास प्रयोग किया है। जित्तन, ताजमनी, लुत्तो, भिम्मल, वीरभद्दर आदि अनेक यथार्थवादी पात्रों के माध्यम से परानपुर गाँव के टूटने की कथा-व्यथा इसमें चित्रित है। रेणु ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय गावों का यथार्थ चित्र इसमें उपस्थित किया है। स्वतन्त्रता के उपरान्त गाँवों में जो मूल्य-परिवर्तन आये हैं, उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में राजनीति ने जो हलचल पैदा की है, उन्हें पकड़ने में रेणु की संवेदनशील यथार्थ दृष्टि पूर्णतया सक्षम है।

आंचलिक उपन्यासों में अभिव्यक्त आंचलिकता की चेतना भी दो स्तरों पर मिलती है। एक तो वे उपन्यास हैं जिनमें चित्रित अंचल-विशेष से लेखक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उस जीवन से उनका गहरा लगाव है क्योंकि उसे अनुभूति के स्तर पर उन्होंने जिया है। रेणु तथा नागार्जुन के सभी उपन्यास, शिव सागर मिश्र कृत 'दूब जनम आई' (१९६०), शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' कृत 'बहती गंगा' (१९५२), शैलेश मटियानी कृत 'हौलदार' (१९६०), 'चिट्ठी रसैन' (१९६०), 'एक मूठ सरसों' (१९६०) आदि इस कोटि के उपन्यास हैं। 'बहती गंगा प्रयोग की दृष्टि

---

१. 'मैला आंचल' : पृ० ३४६।

२. द्रष्टव्य : वही : पृ० ३८७।

३. द्रष्टव्य : वही : पृ० ३३३।

से उल्लेखनीय उपन्यास है। उसमें सत्रह तरंगों में काशी नगरी का चित्रण किया गया है। 'हौलदार' में कुमायूं के पार्वतीय अंचल की कथा को रूपायित करने का प्रयास लेखक ने किया है। डुंगरसिंह जो हवालदार बनने की इच्छा से फौज में भरती होता है, अपनी ही गोली से लंगड़ा होकर गाँव लौट आता है। 'हौलदार' उसी टूटे हुए आदमी की कहानी है।

दूसरी कोटि के उपन्यासों में वे उपन्यास परिगणित होते हैं जिनकी कथावस्तु सुदूर स्थित विभिन्न क्षेत्र -- जो अपेक्षाकृत अपरिचित होते हैं -- एवं उनकी जनजातियों से सम्बन्धित है जो उन उपन्यासकारों के अपने नहीं है, लेकिन सायास उन्हें अपनाकर अपने लेखन का विषय बनाया है गया है। यद्यपि कला का सायास रूप मौलिक उद्भावना नहीं दे पाता, लेकिन उनकी साधना कम मूल्यवान नहीं। देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'रथ के पहिये' (१९५३) और 'ब्रह्मपुत्र' (१९५६) : नागार्जुन कृत 'वरुण के बेटे' (१९५७) : राजेन्द्र अवस्थी कृत 'जंगल के फूल' (१९६०) : रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं' (१९५७) : उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' (१९५५) प्रभृति इस कोटि के उपन्यास है। 'ब्रह्मपुत्र' ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे स्थित पिसांगमुख (आसाम) के लोक-जीवन पर आधारित उपन्यास है। 'वरुण के बेटे' मछुओं के साहसिक जीवन की कहानी है तो 'कब तक पुकारूं' में नटों के जीवन को लिया गया है। 'जंगल के फूल' में मध्य प्रदेश की जंगली जातियों का जीवन्त चित्र उपलब्ध होता है। 'सागर लहरें और मनुष्य' में बम्बई महानगर के पश्चिमी तट पर बसे मछुओं की बस्ती बरसोवा की जिन्दगी को चित्रित करने का प्रयास लेखक ने किया है। वैसे अनुभव की आत्मीयता जो पहली कोटि के उपन्यासों में उपलब्ध होती है, उसका यहाँ कुछ अभाव रहता है : तथापि उनका यह प्रयास कम श्लाघनीय नहीं है।

(४) ऐतिहासिक उपन्यास

डॉ० रणवीर रांग्रा ने ऐतिहासिक उपन्यास के प्रयोजन पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए लिखा है : "लैसली स्टीफन का विश्वास है कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यासों के घातक हैं, उधर इतिहासकार पालग्रैव की धारणा है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के शत्रु है होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास यदि साहित्य और

इतिहास दोनों में से किसी के भी प्रति न्याय नहीं कर पाता तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर उपन्यासकार प्रवृत्त क्यों होता है ?"[1] इस प्रश्न के कई उत्तर हैं। कुछ उपन्यासकार इतिहास का पुनर्मूल्यांकन करने की दृष्टि से इधर प्रवृत्त होते हैं, यथा वृन्दावनलाल वर्मा। कई बार कोई युग-विशेष किसी उपन्यासकार को इतना प्रभावित कर जाता है कि वह उसे अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा पुनर्जागृत करना चाहता है। जयशंकर प्रसाद और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रवृत्ति इधर जान पड़ती है। कुछ उपन्यासकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिसे 'ऐतिहासिक रस'[2] कहते हैं उससे प्रवृत्त होकर इस क्षेत्र में आते हैं। हिन्दी में आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं। तो कुछ उपन्यासकार मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर प्राचीन इतिहास के सहारे अपने मत का विवेचन-विश्लेषण एवं पुष्टि करने के हेतु ऐतिहासिक उपन्यास का पल्ला पकड़ते हैं। महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव प्रभृति उपन्यासकार इस कोटि में आते हैं। कुछ भी हो ऐतिहासिक उपन्यास भी वे ही श्रेष्ठ समझे जायेंगे जिनमें किसी युग-विशेष को उसके मूल यथार्थ रूपमें पकड़ने की भरसक चेष्टा होगी। परन्तु यहाँ यह बात ध्यातव्य रहे कि इस यथार्थ निर्माण के प्रयत्न में उपन्यास केवल-शुष्क-- शुष्क ऐतिहासिक विवरण मात्र न हो जाय। इस सन्दर्भ में डॉ० नारायण भारद्वाज का यह मत उल्लेखनीय है :" वस्तुत: ऐतिहासिक उपन्यास पहले उपन्यास है, बाद में अन्य कुछ है। जीवन की व्याख्या या उसका चित्र उपस्थित करने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का उसमें कलात्मक संयोजन हुआ करता है। अत: उपन्यासकार उनमें कला की साधना के लिए कल्पना का समुचित उपयोग भी कर सकता है।"[3] तात्पर्य कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को दोहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए उपन्यास की मूल रसात्मकता को बनाए रखना निश्चय ही एक दुष्कर कर्म है। अब हम संक्षेप में कुछ ऐतिहासिक उपन्यासकारों के कृतित्व का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

---

१. लेख --' प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास ' : ले० डॉ० रणवीर रांग्रा : ' हिन्दी उपन्यास ' : सं० डॉ० प्रियदर्शिनी : पृ० १२३-१२४।

२. ' साहित्य ' : रवीन्द्रनाथ ठाकुर : पृ० १२५।

३. ' हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन ' : डॉ० श्री नारायण भारद्वाज : (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) : पृ० ८८।

वृन्दावनलाल वर्मा : वर्माजी उपन्यास लिखने से पूर्व तदर्थ गहरा अध्ययन एवं पर्याप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण कर लेने के कायल हैं। आलोच्य काल में उनके `झांसी की रानी` (१९४६), `कचनार` (१९४७), `मृगनयनी` (१९५०), `टूटे कांटे` (१९५४), अहिल्याबाई (१९५५), `माधवजी सिन्धिया` (१९५६), `भुवन विक्रम` (१९५७) आदि उपन्यास आते हैं। वर्माजी के प्राय: सभी उपन्यास मध्य-युग से सम्बन्धित हैं, केवल `भुवन विक्रम` ही वैदिक युग को चित्रित करता है। `झांसी की रानी` में लेखक ने राष्ट्रीय भावना को विशेषरूप से उभारा है। उनके अनुसार लक्ष्मीबाई केवल व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं प्रत्युत स्वातन्त्र्य भावना से अनुप्राणित होकर अंग्रेजों के खिलाफ लड़ी थीं।[१] `मृगनयनी` वर्माजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। उसमें ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर और रानी मृगनयनी की कहानी है। मृगनयनी एक विचक्षण नारी है, जिसमें सौन्दर्य एवं साहस का मणिकांचन योग हुआ है। इनके बल पर ही वह एक सामान्य गूजर कन्या निन्नी से रानी मृगनयनी बन सकती है। मानसिंह और मृगनयनी के समान्तर लाखी और अटल की प्रेमकथा चलती है, जो एक प्रकार से उपन्यास का प्राण है।[२] लाखी और अटल काल्पनिक पात्र हैं। वर्माजी कुछ काल्पनिक पात्रों के द्वारा तत्कालीन समाज को उसके यथार्थ रूपमें चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। यहां उनके औपन्यासिक कृतित्व के सम्बन्ध में डा० भारद्वाज का यह मत ध्यातव्य है :

`ऐतिहासिक यथार्थ के निरूपण में वर्माजी की एक विशेषता यह भी है कि वे व्यक्ति और समाज तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि उनसे सम्बद्ध प्रकृति-विशेष का भी चित्रण करते हैं, जो उनके उपन्यासों का आकर्षक अंग बन गया है। इसे लक्ष्य करके ही उन्हें हिन्दी का वाल्टर स्काट कहा जाता है। किन्तु उनकी कृतियों का अनुशीलन करने पर यह कहा जा सकता है कि वर्माजी ने वाल्टर स्काट की-सी प्रदेश-वर्णन की दीर्घता और सामन्ती आस्था को अपनी कृतियों में हावी नहीं होने दिया, बल्कि उन्हें अपनी औचित्यपूर्ण सीमा में रख कर वाल्टर स्काट की कला से अपने शिल्प की विशेषता का परिचय दिया है। इस प्रकार उनके उपन्यासों में व्यक्ति, समाज और प्रकृति तीनों की पूर्ण यथार्थता के साथ अभिव्यक्ति हुई है।`[३]

---

१. `हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन` : डॉ० भारद्वाज : पृ० ८० । २. `हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग` : डॉ० त्रिभुवनसिंह : पृ० १२५ । ३. `हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : पृ. ४५५।

चतुरसेन शास्त्री : शास्त्रीजी के उपन्यासों में आदर्शवादी दृष्टि से भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण उपलब्ध होता है। विवेच्य काल में उनके 'वैशाली की नगरवधू' दो भाग (१६४८), 'सोमनाथ' (१६५४), 'आलमगीर' (१६५४), 'वयं रक्षाम:' -दो भाग (१६५५), 'अमरसिंह' (१६६०), 'सोना और खून' - दो भाग (१६६०), 'सह्याद्रि की चट्टानें' (१६६०) आदि उपन्यास आते हैं। 'सोमनाथ' महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण की घटना पर आधारित है। गुजराती के उपन्यासकार कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' से इसकी तुलना करते हुए डॉ० भारद्वाज ने लिखा है : "इसकी कथा-वस्तु (जय सोमनाथ की) पूर्व निर्दिष्ट 'सोमनाथ' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री) की ही भाँति महमूद गजनवी के आक्रमण से सम्बन्धित है, किन्तु ऐतिहासिक विश्वसनीयता और कला के संयोजन की ~~दृष्टि से~~ के दृष्टिकोण से यह (जय सोमनाथ) पूर्व विवेचित उपन्यास (सोमनाथ) की तुलना में अधिक सफल कृति है।"[१]

आलमगीर' और 'सह्याद्रि की चट्टानें' यह दोनों उपन्यास मुगल-मराठा काल पर आधारित हैं। 'वयं रक्षाम:' में प्रागैतिहासिक युग की नर, नाग, दैत्य, दानव आदि जन-जातियों के विस्मृत जीवन का चित्र अंकित है। 'सोना और खून' दस भागों में लिखने का लेखक का इरादा था[२] पर दुर्भाग्य से वे केवल अढ़ाई भाग ही लिख पाए थे कि उनका निधन हो गया। प्रथम भाग में अकबर और शाह आलम के जमाने से कथा शुरू होती है तो दूसरे में ईस्ट इण्डिया कंपनी का शासन तथा सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम का सजीव वर्णन है। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में शास्त्रीजी की ख्याति का मूल आधार तो है उनका उपन्यास -'वैशाली की नगरवधू'। इसका समय ६००-५०० वर्ष ईसा पूर्व का है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित अम्बपाली (गणिका) को उसमें आधार बनाया गया है। नगरवधू का स्थान उस काल एवं समाज में निम्न नहीं होता था, प्रत्युत वह पूरे गण में सर्वश्रेष्ठ, सम्मानित और सर्वाधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला होती थी। परन्तु यह सब पाकर भी अम्बपाली गृहस्थ-जीवन के लिए बराबर तरसती रही। अम्बपाली का यह दर्द ही उपन्यास को सार्थकता प्रदान करता है।

---

१. 'हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' : पृ० ३८६।
२. 'सोना और खून' (१६६०) : भूमिका।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के प्रकाण्ड विद्वान्, भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के मर्मज्ञ और हिन्दी के एक सुधी आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का इस क्षेत्र का योगदान सदैव उल्लेखनीय रहेगा। बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है। एक युग के सांस्कृतिक परिवेश को पुनर्जीवित करने का श्लाघनीय प्रयास उसमें हुआ है। प्रसिद्ध उपन्यासकार जायस कैरी के मतानुसार रचना की समग्रता के लिए जिस विद्वतापूर्ण एवं श्रमसाध्य शोधकार्य की आवश्यकता है[१] उसकी उपस्थिति का अहसास हमें प्रस्तुत उपन्यास में हुए बिना नहीं रहता। ऐतिहासिक यथार्थ के सफल निर्वाह के साथ तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का विनियोजन इस प्रकार हुआ है कि वे साम्प्रतिक समस्याओं से जुड़ गई हैं। इससे रचना रचना को एक अद्वितीय सार्थकता प्राप्त हुई है। भारतीय समाज में नारी के शोषण की शाश्वत समस्या को लेखक ने कलागत संयम के साथ उपस्थित किया है।

इसकी मुख्य कथा भट्टिनी नामक एक अपहृता नारी से सम्बन्धित है। स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानने वाला बाणभट्ट निपुणिका की सहायता से उसे मुक्त करा कर उसके पिता को पुनः सौंप देता है। परन्तु उसका यह प्रश्न समस्या की तिक्तता को गहराई से उभार कर संवेदनशील हृदयों को झकझोरे बिना नहीं रहता कि " मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम है कि इस अन्तःपुर में और कितनी भट्टिनियां हैं। और ऐसे अन्तःपुरों की यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।"[२] निपुणिका का यह प्रश्न कि 'क्या स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?' ध्रुव-पंक्ति की भाँति मन में बारबार उठता है। स्त्री-विक्रय की समस्या, कुछ दूसरे रूप में सही, पर आज भी उतनी ही ज्वलन्त है। नवगीतकार वीरेन्द्र मिश्र की यह पंक्ति बरबस स्मृति-पट पर छा जाती है --" हर दिन है अपमानित रात के कुबेरों से।"[३] निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया

---

१. "Mr. Cary explained that he was now 'Plotting' the book. There was research yet to be done. Research, he explained, was sometimes a bore, but it was necessary for getting the political and social background of his work right."
Joyas Cary :Writers at work :First series (1958). :P60.

२. बाणभट्ट की आत्मकथा : पृ० । ३. अविराम चल मधुवन्ती : पृ० ८६ ।

आदि सभी स्त्री-चरित्र सामाजिक विडम्बनाओं के शिकार हैं ।

इस उपन्यास में बाण को छोड़कर अधिकांश पात्र काल्पनिक हैं पर ऐतिहासिक परिवेश के यथार्थ अंकन ने उन्हें प्रतीतिकर बनाते हुए सत्य का आभास दिया है । `हर्षचरित` एवं `कादम्बरी` में अंकित बाण के जीवन-अंशों को लेखक ने इस प्रकार गुम्फित किया है कि रचना बाण की आत्मकथा-सी जान पड़ती है तथा इसे अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए `कथा-मुख` में स्पष्ट कर दिया है कि यह आस्ट्रिया की मिस कैथेराइन को खोज में प्राप्त बाणभट्ट की आत्मकथा का ही हिन्दी अनुवाद मात्र है । वैसे इस टैकनिक का प्रयोग इसके पूर्व जैनेन्द्र के `त्याग पत्र` (१९३७) तथा राहुल सांकृत्यायन के `सिंह सेनापति` (१९४२) में भी मिलता है । बाणभट्ट ने ऐसी कोई आत्मकथा नहीं लिखी थी, तथापि आत्मकथात्मक शैली के कारण यह उपन्यास बाणभट्ट की जीवनी होने से बच गया है । अत: इसे लेखककी अपूर्व सफलता कहना समुचित ही होगा ।

<u>साम्यवादी चेतना से अनुप्राणित ऐतिहासिक उपन्यास</u> : साम्यवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इतिहास का विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव प्रभृति मुख्य हैं । इन उपन्यासकारों ने कहीं तो प्राचीन काल की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को अपने सिद्धान्तों के अनुकूल पाकर उसकी प्रशंसा की है अथवा उनकी व्याख्या की है । राहुल सांकृत्यायन कृत `सिंह-सेनापति` (१९४२), `जय यौधेय` (१९४४), रांगेय राघव कृत `मुर्दों का टीला` (१९४८) आदि उपन्यास इस कोटि के हैं । इसके अतिरिक्त कहीं प्राचीन काल में व्याप्त सामन्तीय व्यवस्था, जातिप्रथा, नारी का शोषण आदि के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है, जैसे यशपाल कृत `दिव्या` (१९४५) तथा `अमिता` (१९५६) । `सिंह सेनापति` में लिच्छवि गणतन्त्र, `जय यौधेय` में यौधेय गणतन्त्र, `मुर्दों का टीला` में मोहन जो दड़ो की संस्कृति, `दिव्या` में बौद्धकालीन भारत में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था तथा `अमिता` में अशोक के कलिंग-विजय के ऐतिहासिक वृत्त को लिया गया है ।

इन कृतियों के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों में शिवप्रसाद मिश्र कृत ` बहती गंगा ` (सन् १९५२) एक नवीन प्रयोग है। इसमें काशी नगरी की २०० वर्षों की -- सन् १७५० से १९५० -- कहानी सत्रह तरंगों में धारा-तरंग न्याय के अनुसार रोचक ढंग से कही गई है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव द्वारा लिखित ` बेकसी का मज़ार ` (१९५७) प्रथम स्वाधीनता संग्राम को लेकर लिखा गया है। वीरेन्द्रकुमार जैन का उपन्यास ` मुक्तिदूत ` (-) अंजना और पवनंजय के पौराणिक आख्यान पर आधारित उपन्यास है। अमृतलाल नागर कृत ` शतरंज के मोहरे ` में अवध के नवाबों का विलास एवं उल्लासपूर्ण जीवन अंकित है। यादवेन्द्र शर्मा ` चन्द्र ` का ` सन्यासी और सुंदरी ` तथा अनकाम सुनील के ` सामन्त बीजगुप्त ` (१९५६) और ` इरावती ` (-) प्रभृति उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं। ` सामन्त बीजगुप्त ` में ` चित्रलेखा ` की कथा को आगे बढ़ाया गया है तो ` इरावती ` में जयशंकर प्रसाद की अपूर्ण कृति को पूर्णता देने का साहसपूर्ण प्रयोग किया गया है।

(५) मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोविज्ञान मन का विज्ञान है। उसका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द ` सायकोलोजी ` यूनानी भाषा के ` सायके ` और ` लोगस ` के योग से बना है। ` सायके ` का अर्थ है आत्मा और ` लोगस ` का अर्थ है ` विचार-विमर्श `। अत: ` सायकोलोजी ` वह विज्ञान है जिसमें मनुष्य की आत्मा अथवा मन पर विचार किया जाता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं। हिन्दी-उपन्यासों का विकास-क्रम घटना से चरित्र, चरित्र से व्यक्ति और व्यक्ति से मन की तरफ होता गया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अचेतन मन की अछूती अनचीन्ही गहराइयों एवं जटिलताओं की परतों को उधेड़ने का कलात्मक उपक्रम रहता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उपन्यास के अन्य प्रकारों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं होता। इसके बिना तो अच्छे उपन्यास सम्भव ही नहीं। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तो उपन्यासकार का मुख्य प्रतिपाद्य ही मनोवैज्ञानिक वस्तु, पात्र एवं क्षण हैं। जिन बाह्य घटनाओं और संघर्षों का चित्रण सामाजिक उपन्यासकार अत्यन्त विस्तार के साथ करता है, हो सकता है मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उन्हें छोड़ दें या अत्यन्त संक्षेप में उनका वर्णन कर दें।

इस सरणि के उपन्यासों में जैनेन्द्र की कृतियों का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी कृति `परख` में सत्यधन तथा `त्यागपत्र` में मृणाल के विवाह का उल्लेख भर किया गया है, जबकि सामाजिक उपन्यासों में तो इनका ब्यौरेवार वर्णन मिल सकता है। दूसरी ओर मृणाल की वय:सन्धि अवस्था पर लेखक ने विस्तार से लिखा है। `परख` का नायक कश्मीर-यात्रा पर जाता है पर उसकी हसीन वादियों की तथा लोकोत्तर सौन्दर्य-राशि को लेखक ने छुआ तक नहीं है। दूसरी ओर कट्टो की शरारतें, अठखेलियां तथा मान-मनौवल पर लेखक ने कई पन्ने भरे हैं। गरिमा जब सत्यधन से शादी कर गाँव में प्रथम बार आती है तब उसकी मन:स्थिति पर लेखक ने विस्तार से लिखा है, जबकि सत्यधन और गरिमा के माँ के निधन की केवल सूचना भर मिलती है।[१] तात्पर्य यह कि ऐसे उपन्यासों में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा मानसिक संघर्ष एवं उथल-पुथल को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। मनोवैज्ञानिक क्षणों को (Psychological Moments) को लेखक सूक्ष्मता से पकड़ने की चेष्टा करता है। डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दों में, `यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप को अभिव्यक्ति पर आग्रह पायें तो उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहें।`[२] इस प्रकार इनमें स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर संक्रमण होता है।

अत: मनोवैज्ञानिक उपन्यास का शिल्प प्रकृत्या भिन्न पड़ता है। उसका कथावस्तु अधिक सूक्ष्म होता है। `नदी के द्वीप` या त्यागपत्र की कथा को एक परिच्छेद में बताया जा सकता है क्योंकि इनमें स्थूल घटनाओं का नितान्त अभाव है। इनमें पात्र बहुलता भी नहीं है। लेखक का उद्देश्य मानस की अतल गहराइयों तक पहुंचना तथा उनके अगोचर रहस्यों को उद्घाटित करना होता है। वर्णनात्मकता की अपेक्षा इसमें

---

१. `तो अब माँ को भी गाँव से बुला लिया जाय। माँ आई तो, पर बाप-दादों का मकान छोड़ने का सदमा साथ लेकर आई और थोड़े दिनों बाद यह घर भी और यह लोक भी छोड़ गई। दो हफ्ते के अनन्तर गरिमा की मां का भी देह छूट गया।` : जैनेन्द्रकुमार : परख : पृ० १९८।

२. `आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान` : पृ० ९४।

नाटकीयता पर बल दिया जाता है। इसका लेखक ईश्वर की भाँति अपनी सृष्टि में अदृष्ट रहता है। मानव-मन --- उसमें भी अचेतन मन के अकल्प्य गह्वरों को शब्दांकित करना अत्यन्त दुष्कर है, अत: भाव और भाषा न चाहते हुए भी सूक्ष्म, सांकेतिक एवं व्यंजक होते चलते हैं। लेखक को अनेक बार प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। सिग्मण्ड फ्रायड, एडलर, युंग, स्टेवेल, हैवलॉक एलिस, पावलव, मैक्डूगल, कोहलर, कुर्ट कोफ्का प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के नाना सिद्धान्तों का विश्लेषण इसमें मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, प्रत्यावलोकन विश्लेषण, सम्मोहन विश्लेषण, शब्दसंस्मृति आदि प्रणालियों के सहारे किया जाता है। संक्षेप में इन उपन्यासों में व्यक्ति मानस की अतल गहराइयों को नापने की चेष्टा की जाती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की एक और विशेषता उनका आसन्न लेखकत्व है। उसमें लेखक जहाँ-तहाँ उपस्थित नहीं रहता। बहुत-सी बातें वह पाठकों पर छोड़ देता है। अत: पाठकों को भी खूब सतर्कता बरतनी पड़ती है। इन उपन्यासों में पाठकों को सृजन का भी आनन्द मिलता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रत्येक वाचन पर हम कुछ sur pluse हो जाते हैं और फलत: सर्जनात्मक आनन्द की उपलब्धि होती है। किसी ने ठीक ही कहा है --- Psychological Novels are not to be read but to be re-read. अर्थात् मनोवैज्ञानिक उपन्यास केवल एक बार पढ़ने के लिए नहीं, वरन् बार बार पढ़ने के लिए हैं।

जैनेन्द्रकुमार : लब्ध-प्रतिष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार ने हिन्दी-साहित्य में अनेक विषयों में पहल की है। वे हिन्दी उपन्यास-साहित्य के प्रथम व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उपन्यास में प्रचलित सामाजिक-नैतिक मानदण्डों को बदलने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। उनके उपन्यास मनोविज्ञान व दर्शन से शासित हैं। व्यक्ति के अहं का विसर्जन और आत्म-पीड़ा द्वारा आत्मोपलब्धि उनके उपन्यासों का काम्य रहा है। कथा और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा वे चिन्तन को अधिक महत्व देते हैं। उपन्यास को आक्रान्त करने वाली एक रहस्यमय दार्शनिकता उनमें साद्यन्त

मिलती है। समाज के नाम पर दो-तीन पात्रों से (पति, पत्नी और पति का मित्र या पत्नी का पूर्व-प्रेमी) उनका वास्ता पड़ता है। इन गिने-चुने पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर सत्-असत् के आन्तरिक संघर्ष को कलात्मक सूझ-बूझ के साथ अभिव्यक्त कर देना ही उनका उद्देश्य है। पात्रों की बाह्य सामाजिक यथार्थता जैनेन्द्र के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। वे कहते हैं: "मेरे निकट यथार्थ का उतना मूल्य नहीं, जितना कल्पना का है। कैसे भी यथार्थ तो कुछ है नहीं। कल्पना का ही सब खेल है।"[१] स्वचिन्तनशासित कथा-विन्यास उनकी सबसे बड़ी सीमा और भाषा की व्यंजकता उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। आलोच्यकाल में उनके 'त्यागपत्र' (१९३७), 'कल्याणी' (१९३९), 'सुखदा' (१९५२), 'विवर्त' (१९५३), 'व्यतीत' (१९५३), जयवर्धन' (१९५६) प्रभृति उपन्यास आते हैं।

'त्यागपत्र' अपने लघु कलेवर में भी महान् औपन्यासिक सम्भावनाओं को लिए हुए है। मानवीय संवेदना की इतनी गहराई व मार्मिकता अन्यत्र दुर्लभ है। "सच-मुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है।"[२] जैनेन्द्रजी का यह वाक्य उपन्यास के केन्द्रवर्ती भाव को रेखांकित करता है। लेखक ने अन्यत्र भी एक स्थान पर लिखा है: "मानव चलता जाता है और बूँद बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है, उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा।"[३] दर्द मानव-मन का अमृत है जिससे मानता जी उठती है। 'त्यागपत्र' इस तथ्य का संवेद्य रूप है कि मानव-जीवन से दर्द को नि:शेष कर देने से कुछ भी शेष नहीं रहेगा। 'निर्मला' (प्रेमचन्द) और 'नारी' (सियारामशरण गुप्त) के पश्चात् नारी-जीवन की अश्रुगाथा का सशक्त रूप हमें 'त्यागपत्र' में मिलता है। उसकी मृणाल हिन्दी औपन्यासिक साहित्य का एक अविस्मरणीय पात्र है।

यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। कथा को विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए लेखक ने प्रारम्भिक वक्तव्य में बताया है कि यह सर एम०

---

१. 'मैं इनसे मिला' : भाग-२ : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : पृ० ७४।

२. 'त्यागपत्र' : पृ० ६२। ३. वही : पृ० ३८।

दयाल (पी० दयाल ?)[१] नामक नामांकित जज के यहाँ पाई गई अंग्रेजी पांडुलिपि का हिन्दी अनुवाद मात्र है, और इसका सफलतम निर्वाह हुआ है।

मृणाल` में आत्मपीड़न की (Masochism) की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही मिलती है। स्कूल में दूसरे की शिक्षा अपने पर ले लेती है तथा भाभी के द्वारा पिटाई) होने पर भी प्रतिकार नहीं करती। पूरे उपन्यास में वह दूसरों के लिए मरती-खपती रहती है। संसार के प्रति करुणा का सागर उसके हृदय में तरंगित होता है, किन्तु बदले में मिलती हैं ठोकरें।

`त्यागपत्र` हिन्दी का एक अत्यन्त विवादास्पद उपन्यास है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सामाजिक नैतिकता के आग्रही आलोचकों ने उसकी श्रेष्ठता को संदिग्ध करार दिया है जबकि दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० देवराज उपाध्याय, डॉ० रामदरश मिश्र प्रभृति विद्वान् उसकी कारुणिक मार्मिकता के कायल हैं। डॉ० देवराज उपाध्याय के मतानुसार `त्यागपत्र` मानव-आत्मा की ट्रेजेडी है: `वज्र हृदय को भी हिला देने वाली ट्रेजेडी। मृणाल की नियति की कुटिलता को ज़रा देखिए। ट्रेजडी उसके अनाथ होने में नहीं, उसके जीवन में रोटियों के लाले पड़ने से नहीं, उसके तिल-तिलकर मरने में नहीं, बल्कि पति के प्रति समर्पित जीवन व्यतीत करने के कारण पति की उपेक्षिता हो नारकीय जीवन के स्वीकार कर लेने पर बाध्य होने में है। परिस्थितियों के नीचे दबकर कब्र में चला जाना तो कुछ नहीं: पर परिस्थिति के चक्कर में पड़कर एक सती-साध्वी स्त्री का अपवित्र वेश्या-जीवन की भयंकर यन्त्रणा को स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना -- यह आत्मा की ट्रेजेडी है।'[२]

दूसरी ओर प्रमोद के पात्र का निर्माण `मृणाल` की यन्त्रणा के मापक यन्त्र के रूप में हुआ है। मृणाल की मृत्यु-यन्त्रणा की चरम सीमा पर वह

---

१. `त्यागपत्र` : प्रारम्भिक वक्तव्य।

२. `हिन्दी उपन्यास` : सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० २८७।

टूट जाता है और जजी से त्यागपत्र दे देता है। इस प्रकार उपन्यास का अन्त गहरी संवेदना को जगा जाता है।

~~विवेच्य~~ विवेच्य काल के अन्तर्गत आने वाला जैनेन्द्रजी का द्वितीय उपन्यास 'कल्याणी' (१९३९) आधुनिक नारी-जीवन के द्वन्द्व को गहराई से अंकित करने वाला आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। 'त्यागपत्र' की भाँति यहाँ भी लेखक ने भूमिका में उसे सच्ची घटना पर आधारित उपन्यास घोषित किया है। लेखक के कथनानुसार उसकी कहानी उन्हें अपने एक वकील मित्र से प्राप्त हुई थी। 'कल्याणी' की कहानी एक ऐसी आधुनिक शिक्षित महिला की कहानी है जो विलायत से डाक्टरी पास करके आयी है। एक ओर जहां उसमें अपने पूर्व-प्रेमी के लिए पीड़ा है, वहाँ दूसरी ओर अपने पति डॉ० असरानी के प्रति गहरी निष्ठा है। वह अपनी वैयक्तिक पीड़ा के कारण अपने पत्नी-रूप को नष्ट करना नहीं चाहती। परन्तु अपने उस रूप और डाक्टरी व्यवसाय में वह सामंजस्य नहीं बिठा पाती। उसका पति जहां एक ओर धन के लिए उसे एक्सप्लाइट करता है, वहाँ दूसरी ओर भटनागर और राय साहब के साथ उसका नाम जोड़कर उसे लांछित भी करता है और सड़क पर जूतियों से पीटता भी है। पाश्चात्य शिक्षा से प्राप्त, आधुनिक व आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर ऐसी कल्याणी यह घोर लांछना व अपमान बरदाश्त कर लेती है यह थोड़ा अस्वाभाविक लगता है। डॉ० असरानी का चरित्र सम्पूर्ण व्यावसायिक है। स्त्री और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए वह अनैतिकता के किसी भी स्तर पर जा सकता है। धन के लिए वह अपनी पत्नी को उसके पूर्व-प्रेमी के पास भेज देने में भी उसे हिचक नहीं। वस्तुत: यहाँ जैनेन्द्रजी ने शिक्षिता नारियों के भविष्य में होनेवाले शोषण के एक रूप का संकेत दे दिया है। परन्तु जहाँ आधुनिक शिक्षित, विवाहित एवं व्यवसायी स्त्रियाँ अपने पति एवं व्यवसाय में एक समझौतापरक व्यावसायिक सामंजस्य बिठा सकती हैं, वहाँ कल्याणी ~~अ~~ उस सामंजस्य को न बिठा पाने के कारण[१] टूटकर अन्तत: घुट घुट कर मर जाती है। डॉ० सुषमा धवन के शब्दों में

---

१. द्रष्टव्य : "विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी यानी गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती, बस कन्या होती है। पर मैं कुछ थी। निरी कन्या न थी, डाक्टर थी। अब सवाल है मेरी शादी और डाक्टरी, मेरा पत्नीत्व और निजत्व, ये परस्पर कैसे निभें?" : 'कल्याणी' : पृ० ३२।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र आधुनिक नारी की समस्या को लेकर चले हैं जिसे हम युग की मांग भी कह सकते हैं।[1]

'कल्याणी' के इस रूप का विपरीत रूप हमें 'सुखदा' में मिलता है। कल्याणी और डॉ० असरानी के दूसरे छोर पर आते हैं सुखदा और कान्त। पाश्चात्य शिक्षा से सम्पन्न होने के बावजूद जहां कल्याणी 'सबमिसिव' प्रकृति की है, वहां सुखदा अधिक स्वतन्त्र व उनमुक्त है। डॉ० असरानी भी जहां एक ओर कल्याणी द्वारा आर्थिक सुख-सुविधाओं को उपलब्ध करना चाहते हैं वहां दूसरी ओर उसके चरित्र के प्रति निरन्तर शंकालु-से रहते हैं। जबकि कान्त इस विषय में नपुंसकता की हद तक 'फारवर्डनैस' लिए हुए है।[2]

सुखदा एक अमीर पिता की, लाड़ों में पली महत्वाकांक्षी कन्या है। ५००-७०० रूपये आयवाले (उस जमाने में) पति का जहाँ वह स्वप्न देख रही थी, वहाँ उसका विवाह १५० रूपये प्रतिमास पाने वाले कान्त से हो जाता है। आर्थिक-ह हीनता का यह बोध उसे कान्त के प्रति कभी भी पूर्णतया समर्पित नहीं होने देता। उसकी यह अभुक्त काम-वासना क्रान्ति का विस्फोटक स्वरूप धारण करती है। अपने यहाँ नौकरी करने वाले गंगासिंह (एक छद्मवेशी क्रान्तिकारी) से प्रेरित होकर वह क्रान्तिकारी दल की उपाध्यक्षा बन जाती है, जहाँ उसका परिचय उसके पति के मित्र ~~हरिश~~- हरीश से होता है। हरीश के ही द्वारा वह मि० लाल के परिचय में आती है जो बाद में प्रेम तथा आत्म-समर्पण में परिणत होता है। गांधीवादी ~~विचा~~ विचारों से प्रभावित हरीश क्रान्तिदल को छोड़कर चला जाता है। उसके ही कहने से कान्त पुलिस का मुखबिर बन उस पर लगा पांच हजार रूपये का पुरस्कार प्राप्त कर, उस राशि को सुखदा के हवाले करता है। इससे कान्त सुखदा की नजरों में और भी गा

---

१. द्रष्टव्य : 'हिन्दी उपन्यास' : डॉ० सुषमा धवन : पृ० ८७।

२. द्रष्टव्य : "तुम्हारा मुझ से विवाह हुआ है हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही आता है, पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो सुखदा, स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे ख्याल से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है। मुझ से पूछो तो तुम्हें अपने में प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।" : सुखदा' : पृ० ।

गिर जाता है और वह अपनी माँ के पास रहने चली जाती है। अन्तत: क्षय रोग का शिकार होकर वह सैनेटोरियम में पहुंचती है जहाँ से वह यह कहानी लिखती है। इस प्रकार यहाँ भी 'सुनीता' की भाँति लेखक ने क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को संयोजित करने का प्रयास किया है। परन्तु गांधीवादी दर्शन के आगे उनका क्रान्तिकारी यहाँ भी घुटने टेकता हुआ प्रतीत होता है।

जैनेन्द्र के और उपन्यास जहाँ नायिका-प्रधान हैं, वहाँ 'विवर्त' (१९५३) में आदि से अन्त तक कथा एक पुरुष -- जितेन -- को केन्द्र में रखकर चलती है। अंग्रेजी के एक दैनिक में सहसम्पादकीय विभाग में काम करने वाला जितेन एक साधारण परिवार का यशस्वी युवक है। धनी-मानी रिटायर्ड जज की पुत्री भुवनमोहिनी से उसे प्रेम होता है। परन्तु आर्थिक वैषम्य की दीवार उन्हें विवाह-सूत्र में बंधने नहीं देती। भुवन का विवाह एक प्रतिष्ठित वकील नरेश से हो जाता है। 'सुखदा' की भाँति यहाँ भी यह असफल प्रेम विस्फोटक रूप धारण करता है। जितेन का क्रान्तिकारी होना, ट्रेन को उलटते हुए घायल होकर भुवन के यहाँ पनाह पाना, वहाँ से उसके आभूषणों को चुराकर भागना, अधिक धन को प्राप्त करने के लिए भुवन को नरेश के यहाँ से उड़वाना, भुवन का जितेन के आगे स्वयं जितेन के लिए गिड़गिड़ाना, जितेन का अपने आप को पुलिस के हवाले कर देना, नरेश की पैरवी की आफर को इन्कारना और अन्त में अदालत में प्राणदण्ड को स्वीकारते हुए शहीदाना अन्दाज़ में वक्तव्य देना[1] आदि अत्यन्त नाटकीय एवं आरोपित-सा लगता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध भयानक (horror) फिल्मों के निर्माता आल्फ्रेड हिचकोक के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में भ अत्यन्त डरपोक व भीरु प्रकृति के हैं और उनकी यह प्रकृति ही उनकी सफलता का रहस्य है। इसी प्रकार हो सकता है जैनेन्द्र की भीरु प्रकृति[2] ने ही उनके उपन्यासों में क्रान्तिकारी पात्रों को जन्म देकर अपनी क्षति-पूर्ति की हो।

---

१. द्रष्टव्य : 'हम समझते हैं यह दुनिया है और हम आज़ाद हैं, पर यह समझना खुद सवाल है...... हल यह है कि यह जैल है और हम कैदी हैं। जैल भगवान की और कैदी हम भगवान् के हैं।' : विवर्त : पृ० २२८-२२९।

२. देखिए : 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का अध्ययन' : रघुवीर भालानी : पृ० ।

'कल्याणी' और 'सुखदा' की भांति 'व्यतीत' (१९५३) भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। इसमें जीवन के पैंतालीसवें वर्ष में उसका नायक जयन्त अपने विगत जीवन पर एक दृष्टिपात करता है। इसकी भी समस्या प्राय: वही है जो 'विवर्त' की है। जयन्त की अभुक्त काम-वासना जो अनीता को लेकर है, उसमें घोर निराशावादी दृष्टिकोण को जन्म देती है और जीवन में कहीं भी स्थिर नहीं होने देती। जबकि अनीता उसे राह पर लाने के लिए आत्म-समर्पण तक के लिए तैयार होती है।[1] जैनेन्द्रजी की नायिकाएं इस विषय में प्राय: त्याग-परायण ~~दिखती~~ ह (?) दिखती हैं।

'जयवर्धन' (१९५६) डायरी शैली में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। वैसे इसके पूर्व डायरी शैली का आंशिक प्रयोग मिलता है, परन्तु उपन्यास क को आद्यन्त इस शैली में लिखने का यह प्रथम प्रयास है। इसमें हूस्टन नामक एक विदेशी पत्रकार को मनोविश्लेषक के रूप में रखकर उसके नायक जयवर्धन ~~का~~ के चरित्र का विश्लेषण मुक्त आसंग (फ्री एसोसियेशन), बाधकता विश्लेषण (रेजिस्टेंस एनेलिसिस), स्वप्न-विश्लेषण आदि मनोवैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा किया गया है।[2] परन्तु इस प्रकार के अध्ययन के लिए कम से कम दो-तीन वर्षों की अवधि चाहिए, जबकि पत्रकार हूस्टन केवल सात दिनों के लिए भारत आता है और उसमें जयवर्धन को समझने की चेष्टा करता है। फलत: जयवर्धन न केवल हूस्टन के लिए, अपितु पाठक के लिए भी अज्ञेय वदुर्बोध बना रहता है।

जैनेन्द्रजी के उपर्युक्त उपन्यासों के अनुशीलन से यह फलित होता है कि 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के पश्चात् उनके कथानकों में दोहराव मिलता है। एक ही प्रकार के विषय-वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखकर उसे बुद्धिवादी एवं दार्शनिक ढंग से विश्लेषित करने का प्रयास उन्होंने किया है, जिसमें कहीं-कहीं उन्हें असफलता ही हाथ लगी है। प्रणय-त्रिकोण, असफल-प्रेम जनित अभुक्त काम-वासना, उससे उत्पन्न निराशावादी और विध्वंसक दृटिकोण, विवाह संस्था के प्रति अविश्वास, नारी के प्रेमिका रूप का महत्व, पति का पत्नी के प्रेमी के प्रति उदारतावादी दृटिकोण आदि बातें जैनेन्द्र के उपन्यासों में एकाधिक बार मिलती हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र में प्राय: मध्यवर्गीय शहरी जीवन की सेक्स-सम्बन्धी समस्याओं का सविशेष आकलन मिलता है।

१. देखिए: 'व्यतीत' ; पृ. १६६-१६७। २. 'हिन्दी उपन्यास' ; सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी ; पृ० १७६-१८०।

इलाचन्द्र जोशी : जोशीजी मूलत: कवि थे। उनकी छायावादी कविता -ओं का एक संकलन 'विजनवती' नामसे प्रकाशित भी हुआ था। प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-परम्पराओं का उनका ज्ञान अगाध है। इसके साथ यदि प्रेमचन्द का अनुभव या संघर्ष तथा जैनेन्द्र की दृष्टि उन्हें प्राप्त होती तो हिन्दी के औपन्यासिक साहित्य का गौरव वे और भी बढ़ाते। उनके उपन्यासों में शास्त्र अधिक होता है, जीवन कम।[1] 'संन्यासी' (१९४१), 'पर्दे की रानी' ('४१), 'प्रेत और छाया' (१९४६), 'निर्वासित (१९४६), 'मुक्तिपथ' (१९५०), 'सुबह के भूले' (१९५२), जिप्सी' (१९५२), 'जहाज का पंछी' (१९५६) आदि उनके आलोच्य काल के उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

अपने उपन्यासों के सन्दर्भ में जोशीजी ने लिखा है -- 'मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की एकांतिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है।..... कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब (उसे) पुरुष को पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्मविनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को।'[2] 'संन्यासी' का नन्दकिशोर भी एक अहंकारी व्यक्ति है और उसकी इस वृत्ति के कारण अनेक निरीह नारियों का जीवन नष्ट होता है। 'पर्दे की रानी' में निरंजना नामक एक वेश्या-पुत्री के प्रति मनमोहन एवं इन्द्रमोहन (बाप-बेटे) के आकृष्ट होने की कहानी है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ अपने पिता द्वारा यह बताये जाने पर कि वह नाजायज सन्तान है, हीनता की ग्रन्थि का शिकार हो जाता है जिसमें वह कई स्त्रियों की पवित्रता को नष्ट करता है। अन्त में उसके पिता द्वारा उसकी माँ को सती-साध्वी घोषित करने पर वह सामान्य हो जाता है। इस प्रकार जोशीजी के उपन्यासों में मनोविज्ञान कला पर हावी हो जाता है। 'मुक्तिपथ' से उनकी कला ने एक स्वस्थ मोड़ लिया है। यहां से उन्होंने वर्षों के अपने मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन-मन्थन का सामाजिक उद्देश्य से प्रयोग करना शुरू किया है।'[3]

---

१. द्रष्टव्य : 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ० १०५। २. 'विवेचना' : इलाचन्द्र जोशी : पृ० १२३। ३. 'हिन्दी उपन्यास: सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० ९८०।

अज्ञेय : अज्ञेय हिन्दी कथा-साहित्य के सर्वाधिक विवादास्पद साहित्यकार हैं। आधुनिकों में सर्वाधिक पाश्चात्य प्रभाव उनमें मिलता है। वैज्ञानिक निरपेक्षता उनके कथा-साहित्य की विशेषता है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, "अज्ञेय के काव्य में मानवीय व्यक्तित्व को, या कि समूची सृष्टि को ही, एक नये, अपेक्षाकृत गैर-रोमाण्टिक ढंग से देखने की शुरूआत मिलती है, जिसमें आग्रह परम्परागत राग पर उतना नहीं ~~जितना~~ जितना कि यथार्थ को सही ढंग से समझने पर है। उपन्यासों में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा लेखक की चिन्तना का केन्द्रीय तत्व है। और इस प्रकार कविता तथा उपन्यास मिलकर व्यक्तित्व का, और इसलिए अन्तत: यथार्थ का भी, एक समग्रतर चित्र उपस्थित करते हैं।"[1] वे व्यक्ति चरित्र की समग्रता को प्रस्तुत करने वाले कलाकार हैं और अपनी इस उद्देश्य पूर्ति में समाज के प्रवर्तमान नैतिक मानदण्डों की उपेक्षा कर उसे चौंकाते हैं। शुरू से उनकी रुचि व्यक्ति-चरित्रों ~~के~~ (Individual characters) की रचना में रही है। टाइप-चरित्रों की रचना में नहीं। उन्होंने स्वयं कहा है -- "..... मेरी रुचि व्यक्ति में रही है।"[2]

"प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास के कथानक वस्तुत: लम्बाई-चौड़ाई में सीमित होकर गहराई में असीम हुए हैं।"[3] कथानक की यह विशेषता हमें अज्ञेय में परिपूर्ण मात्रा में मिलती है। अज्ञेय की औपन्यासिक प्रतिभा सचमुच विशिष्ट है। 'शेखर' (शेखर : एक जीवनी) और 'रेखा' (नदी के द्वीप) अज्ञेय की कथा-प्रतिभा से प्रसूत उनके मानस-पुत्र-पुत्री (?) हैं। दोनों का व्यक्तित्व उन्हें भीड़ से अलगाता है।

कहा गया है -- 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' और हिन्दी गद्य को ऊँचाई प्रदान करने वालों में अज्ञेय अग्रिम पंक्ति में आते हैं। उनका भाषिक

---

१. 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' : पृ० ८० ।

२. 'आत्मनेपद' : अज्ञेय : पृ० ७५ ।

३. 'अज्ञेय का कथा साहित्य' : डॉ० ओम प्रभाकर : पृ० ५० ।

संयम देखते बनता है। शब्दलाघव, सूक्ष्माभिव्यंजना, सांकेतिकता, भाषा की वेधकता रचना-संघटन में मितव्ययिता आदि गुणों से अज्ञेय ने हिन्दी भाषा को एक नयी मूल्यवत्ता प्रदान की है। 'शेखर एक जीवनी' की भाषा के सम्बन्ध में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है -- "अपनी पहली उपन्यास रचना में ही लेखक भाषा के गहरे प्रभाव को समझने लगा है। आरम्भिक कविताओं का ढीलापन समाप्त होकर 'शेखर' में भाषा को लेकर एक आन्तरिक अनुशासन विकसित होता है।"[१]

<u>शेखर एक जीवनी</u> (दो खण्ड - प्रथम खण्ड -१९४१, द्वितीय खण्ड - १९४४) : दो जिल्दों में प्रकाशित 'शेखर' अज्ञेय का प्रथम तथापि हिन्दी उपन्यास साहित्य में पथ-चिह्न के समान एक विशिष्ट उपन्यास है। डा० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार हिन्दी उपन्यास साहित्य में 'गोदान' के पश्चात् यह द्वितीय मोड़ है।[२] डॉ० बच्चन सिंह आधुनिकता के सन्दर्भ में इसे आज भी अपांक्तेय मानते हैं।[३] इस उपन्यास का प्रस्तावित तीसरा खण्ड प्रकाश में नहीं आया है। वह अभी लेखक के मनो-मस्तिष्क में है।[४] स्वयं लेखक के शब्दों में 'शेखर' के इस तीसरे भाग में "चित्र पूरा हो जाता है,.... वह हिंसावाद से आगे बढ़ जाता है।.... वह मरता है तो एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण मानव बनकर।"[५] और लेखक के मतानुसार 'शेखर' का जीवन-दर्शन भी यही है -- "स्वातन्त्र्य की खोज।"[६]

'शेखर' लेखक के दस वर्ष के परिश्रम का फल है। उसमें "घनीभूत वेदना की एक रात में देखे हुए vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है।"[७] उसकी कथा एक जीवनी के रूप में लिखी गई है, जिसे स्वयं शेखर ने मृत्यु की छाया में बैठकर लिखा है। पहले भाग में उसके स्मृति-पटल पर छाने वाले संस्मरण 'शेखर' की भवितव्य आकृति को उभारने के हेतु रखे गये हैं। दूसरे भाग में शशि और शेखर की कथा को मुख्यतः लिया गया है। शशि और शेखर का सम्बन्ध हिन्दी के कुछ आलोचकों में चर्चा का विषय रहा था।

---

१. अज्ञेय और रचना की समस्या' : पृ० ८९। २. आज का हिन्दी उपन्यास : पृ०
३. देखिए : परिशोध - शोधांक-२०, जनवरी १९७४ । ४. "शेखर' का तीसरा भाग मेरे सामने है और केवल मेरे सामने है, पाठक के सामने नहीं है।" : अज्ञेय : आत्मनेपद : पृ० ६०। ५. वही : पृ० ६८। ६. वही : पृ० ७०। ७. 'शेखर : एक जीवनी' - प्रथम खण्ड' : भूमिका : पृ० ७।

इसमें कथा और विचार-खण्डों की विश्रृंखलता पाइ जाती है। इस सम्बन्ध में डॉ० त्रिभुवन सिंह का यह मत उल्लेखनीय है --" इस उपन्यास में कथा के क्रमिक विकास की इसलिए भी कोई सम्भावना नहीं है कि सारी की सारी कथा एक ऐसे व्यक्ति अथवा पात्र द्वारा कही या लिखी जाती रही है जिसे फांसी दी जाने वाली है। पाठक स्वयं अपने को इस भूमिका में रखकर विचार कर सकते हैं कि शूली पर चढ़ने की सज़ा जिस व्यक्ति को दी गई है वह कभी भी सिलसिलेवार सोचने की स्थिति में नहीं रह सकता।"[१]

'शेखर' की भूमिका का प्रथम वाक्य है --" वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में हैं वे द्रष्टा हो सकते हैं।"[२] 'त्यागपत्र' के जज एम० दयाल भी ऐसा ही कहते हैं। शेखर इसी वेदना की विवृत्ति है। शेखर के व्यक्तित्व में पीड़ा और प्रेम का मुख्य चरित्र है शशि। शेखर कहता है --" सबसे पहले तुम शशि। इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयीं या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है --- ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व कल्पना करता है।"[३]

डॉ०गणेशन ने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' में 'शेखर' और 'रोमां रोलां कृत 'ज्यां क्रिस्तोफ़' की मूल प्रवृत्तियों का विवेचन किया है।[४] अज्ञेयजी ने भी 'ज्यां क्रिस्तोफ़' से प्रेरणा प्राप्त करने की बात का स्वीकार किया है।[५] संक्षेप में 'शेखर' की परिगणना हिन्दी-उपन्यास के विकास-पथ में 'मील के पत्थर' के रूप में होती है।

<u>नदी के द्वीप : (१६५१) :</u> " 'शेखर' चतुर्मुखी विद्रोह का आख्यान है, पर 'नदी के द्वीप' सबसे पहले एक प्रणय कथा है। अत्यन्त सुकुमार, संवेदनशील, विशिष्ट, पर उदार ~~उपन्यास~~ उपन्यास के

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग' : डॉ० त्रिभुवन सिंह : पृ० २०२।
२. 'शेखर : एक जीवनी - भूमिका' : पृ० ७। ३. वही : पृ० १६। ४. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' : पृ० २८२-२८७। ५. आत्मनेपद' : अज्ञेय : पृ०६७।

अग्र भाग पर उद्धृत पंक्तियाँ 'नदी के द्वीप' में केन्द्र रूप है -- दुःख सबको माँजता है / और / चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु -- / जिनको माँजता है / उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।'[१]

'शेखर' का चरित्र विकासमान है, जबकि 'नदी के द्वीप' के सभी चरित्र पूर्ण विकसित हैं। 'रेखा' 'नदी के द्वीप' का सर्वाधिक परिपक्व पात्र है। 'वही अपनी भावनाओं के प्रति सबसे अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सबसे अधिक निर्मम।'[२] उसका नायक भुवन फिजिक्स में डाक्टर है। पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन नहीं व्यक्ति भुवन है। 'रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर -- विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती हैं : रेखा उसकी यौन प्रवृत्ति को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी विवेक-बुद्धि को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज़ है, जागृत करती है।'[३] भुवन की इन दो वृत्तियों का संघर्ष पूरे उपन्यास में चलता रहता है।

'नदी के द्वीप' के पात्रों की विश्वसनीयता को कुछ आलोचकों ने संदिग्ध माना है। उन्हें वे पात्र इस दुनिया के नहीं लगते। रेखा और गौरा में ईर्ष्या न होने की भी आलोचना हुई है।[४] इस सन्दर्भ में लेखक का यह मत है --' नदी के द्वीप के पात्र किसी हद तक अवश्य असाधारण हैं। वैसे ही जैसे भारत में पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी हद तक असाधारण अवश्य है, जहाँ साक्षरता का स्तर अट्ठारह प्रतिशत है, शिक्षितता का आधा प्रतिशत और सुशिक्षितता का कितना ? ०.२ प्रतिशत ? समाज के जिस अंग से 'नदी के द्वीप' के पात्र आये हैं उसका वे गलत प्रतिनिधित्व नहीं करते। मेरे लिए उनकी इतनी सामाजिकता पर्याप्त है।'[५] अस्तु 'नदी के द्वीप' एक विशिष्ट वर्ग की प्रणय-चेष्टाओं तथा काम-जनित कुण्ठाओं को आकलित करनेवाला उपन्यास है। जहाँ 'शेखर' में व्यक्ति की 'अहं' भावना को प्राधान्य मिला है, वहाँ इस उपन्यास में व्यक्ति-चरित्र की भूमिका में 'सैक्स' को लिया गया है।

---

१. 'नदी के द्वीप' : पृ० ७। २. 'आत्मनेपद' : अज्ञेय : पृ० ८६। ३. 'हिन्दी उपन्यास' : सं० डा० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० ९८१। ४. देखिए : 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० २००-२०१।
५. 'आत्मनेपद : पृ० ८६।

डॉ० रणवीर रांग्रा के मतानुसार "`शेखर : एक जीवनी` के प्रधान पात्रों के अचेतन में पहले कान्श्यन्स की सेक्स पर विजय होती रहती है और बाद में सेक्स की जीत ध्वनित होती है। पर `नदी के द्वीप` में पहले सेक्स जीतता रहता है और बाद में कान्श्यन्स।"[1]

अज्ञेय और डी०एच० लारेंस स्त्री-पुरुष की उभयलैंगिकता को महज एक वैज्ञानिक कल्पना मानते हैं। वस्तुत: पुरुष शत-प्रतिशत पुरुष और स्त्री शत-प्रतिशत स्त्री होती है। मिथुन के द्वारा ही उनका मेल सम्भव है।" इस दृष्टि से रेखा के `फुलफिलमेन्ट` तक `नदी के द्वीप` में और लारेन्स के उपन्यास `लेडी चेटर्लीज लवर` में आश्चर्यजनक समानता मिलती है।"[2]

<u>बारह खम्भा - एक नवीन प्रयोग (१९५१-५२) :</u> `तार सप्तक` की भाँति अज्ञेय कथा-साहित्य में भी कुछ नवीनता लाने के लिए उत्सुक थे। `बारह खम्भा` के बारह अध्याय अलग-अलग लेखकों से धारावाहिक रूप में लिखवाये गये थे और वे `प्रतीक` में प्रकाशित हुए थे। इस सहयोगी लेखन में अज्ञेय, मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, अमृतलाल नागर, भारतभूषण अग्रवाल, देवराज, धर्मवीर भारती, रांगेय राघव तथा रामचन्द्र तिवारी। अलग-अलग किश्तों में लिखे गये इस उपन्यास का आज केवल ऐतिहासिक मूल्य रह गया है। ऐसा ही एक प्रयोग सन् १९६० में लक्ष्मीचन्द्र जैन ने किया था -- ग्यारह सपनों का देश। इसे भी अलग-अलग लेखकों ने लिखा था, जिसमें एक मन्नू भण्डारी भी थीं।

संक्षेप में अज्ञेय प्रतिमा के धनी कलाकार हैं। "आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में उनका स्थान एक मौलिक, प्रवर्तक तथा सर्वरूपेण श्रेष्ठ कलाकार के रूप में शीर्ष स्थान पर अक्षुण्ण है और रहेगा।"[3]

<u>डॉ० देवराज :</u> नये हस्ताक्षरों में डॉ० देवराज हिन्दी के एक जाने-माने मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। आलोच्य काल में उनके चार उपन्यास आते हैं -- `पथ की खोज` (१९५१), बाहर-भीतर (१९५४),

---

१. `हिन्दी उपन्यास` : सं० डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० ८८२। २. वही : पृ० ८८२
३. `अज्ञेय का कथा-साहित्य` : डॉ० ओम प्रभाकर : पृ० १६२।

`रोड़े और पत्थर` (१९५८), `अजय की डायरी` (१९६०)। उनके उपन्यासों में शिक्षित बुद्धिजीवी मध्य वर्ग की कुण्ठाओं का चित्रण मिलता है। `पथ की खोज` में जीवन-मूल्यों के विघटन की कहानी है तो `बाहर-भीतर` भाभी-देवर के परस्पर आकर्षण और सामाजिक मर्यादाओं के बीच होने वाले मानसिक-संघर्ष की कथा को प्रस्तुत करता है। `रोड़े और पत्थर` में मध्यवर्गीय जीवन में केवल मकान बनाने की स्पृहा कितनी बलवती होती है और वह किस प्रकार समग्र अनुभूति के केन्द्र में रहती है उसका बड़ा ही जीवन्त चित्रण लेखक ने किया है। `अजय की डायरी` डायरी शैली में लिखा गया उपन्यास है। वैसे इसमें अन्य पद्धतियों का प्रयोग भी हुआ है। अत: नये प्रयोग की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्व भी है। प्रकाशकीय विज्ञप्ति के अनुसार यह `एक प्रेम कथानक के चारों ओर गंथित लेखक के जीवन-दर्शन को प्रकट करने वाला हिन्दी का पहला ~~अन्तर्राष्ट्रीय~~ अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास है। `परन्तु भारतेतर देशों के परि-वेश मात्र से कोई उपन्यास अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बन सकता। रही बात प्रेम कथानक और जीवन-दर्शन तो यह विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अजय की अपनी छात्रा (हेम) के साथ ~~अथ~~ असफल प्रेम की कहानी है। प्रोफेसर अजय अपनी सुन्दर पत्नी शीला से उबकर हेम की ओर आकर्षित होता है। उपन्यास में वह दो स्थानों पर `हेम` को `किस` करता है और अमरिका चला जाता है। वापिस आने पर उसे पता चलता है कि शीला ने किसी और के गर्भ का अबार्शन करवाया था और `हेम` ने एक एंजिनियर से शादी कर ली थी। वस्तुत: आधुनिक शिक्षित समाज पर `अजय की डायरी` एक करारा व्यंग्य है। बुद्धिजीवी लोगों की निर्वीर्यता तथा तद्जनित कुण्ठाओं को यह उपन्यास प्रत्यक्ष करता है।

<u>अन्य कृतियाँ</u> : पूर्ववर्ती पृष्ठों में मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य की प्रतिनिधि कृतियों का तथा उनके लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। स्थानाभाव के कारण न तो कृति विशेष पर विस्तार से जाया जा सकता है और न एक लेखक की सभी कृतियों पर विचार किया ज जा सकता है। इन विवेचित उपन्यासों के अतिरिक्त इस कोटि में आने वाले कुछ अन्य उपन्यासों की भी संक्षिप्त चर्चा यहां आवश्यक है जो इस युग के प्राय: अन्तिम दिनों में प्रकाश में आयीं और साथ ही जिनके लेखकों ने हमारे आलोच्य काल में उक्त परम्परा को आगे बढ़ाने के साथ-साथ शिल्प के नये आयामों का भी उद्घाटन किया है। इसके साथ ही कुछ नये शिल्प-प्रयोग भी इनमें दृष्टिगोचर होते हैं जिन्हें परवर्ती विवेचन में लक्ष्य किया जा सकता है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना द्वारा प्रणीत ` सोया हुआ जल ` (१९५५) सिने-रियो शिल्प में लिखा एक नवीन कथा-प्रयोग है। उपन्यास का शीर्षक ही अवचेतन मन का द्योतक है। इसमें लेखक ने एक यात्री-शाला में ठहरे हुए विभिन्न पात्रों के अन्तर्जगत को स्वप्नों के माध्यम से पकड़ने की सफल चेष्टा की है। द्वितीय कृति ` दिगम्बरी ` (१९५७) उदीयमान उपन्यासकार सूर्यकुमार जोशी का एक लघु उपन्यास है जिसमें सदाशा नामक एक असाधारण (abnormal) युवती की कहानी को फ्रायडियन पद्धति से कहा गया है। सदाशा सीता-सावित्री का आदर्श न ग्रहण कर द्रौपदी का आदर्श ग्रहण करती है और उसके जीवन में आनेवाले पाँचों -- विनय, जज साहब, डॉ० अहमद, मोहम्मद उमर तथा गोवर्धनदास -- पुरुषों के जीवन को तबाह करती है।

आधुनिक पीढ़ी के उभरते हुए प्रयोगशील कथाकार राजेन्द्र यादव ने अपने ` कुलटा ` (१९५८) नामक उपन्यास में नारी-मन की अतल गहराइयों को आधुनिक परिवेश में रखकर देखा-परखा है। प्रस्तुत उपन्यास में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को उद्घाटित किया गया है कि नारी के लिए केवल सेक्स की संतुष्टि ही महत्वपूर्ण नहीं रतिभाव भी महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि मिसेज तेजपाल मेजर को छोड़कर एक वायलिन वादक के साथ भाग जाती है।

` गुनाहों का देवता ` (१९४९) इन्द्रधनुषी कल्पनाओं के धनी डॉ० धर्मवीर भारती का एक रोमानी ` ~~अफलातूनी, अवास्तविक प्रेम का~~ उपन्यास है। `[१] इसका नायक चन्द्रकपूर (चन्दर) भावना और वासना के द्वन्द्व में उलझा हुआ रहता है। सुधा को वह हृदय से चाहता है, पर उसका चेतन मनसे शासित आदर्श उसमें सम्मति नहीं देता और वह उसकी शादी एक अन्य युवक से करा देता है। फलतः दोनों घुटते हैं और अन्त में सुधा की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यह एक मसृण दुखान्त प्रेमकथा है। अश्कजी के मतानुसार " `गुनाहों का देवता ` नव वय के युवक के आदर्शवादी, स्वप्निल, अफलातूनी, अवास्तविक प्रेम का उपन्यास है। "[१]

नरेश मेहता के उपन्यास ` डूबते मस्तूल ` (१९५४) की कथा-अवधि कुल एक दिन और रात के दो बजे तक की है। स्वामीनाथ अपने मित्र पुरी से मिलने जाता

---

१. आलोचना, क्रमांक-४ : पृ० १०५ ।

हैं , वहाँ पुरी के बदले उसकी भेंट कथा-नायिका रंजना से होती है जो उसे अपना पूर्व -प्रेमी समझकर अकलंक समझकर उसे अपनी पूरी कहानी बयान करती है। रंजना हिन्दी उपन्यास साहित्य की वह नायिका है जिसको दस पुरुषों ने लगातार भोगा था तथा कइयों ने उसके शरीर से खिलवाड़ किया था। इसके कथा-शिल्प में लेखक ने जैम्स ज्वायस के 'यूलिसिस' का असफल प्रयोग किया है।

अपने दूसरे उपन्यास 'दो एकान्त' (१९५५) में लेखक ने आधुनिक युग की एक जटिल समस्या को लिया है। आधुनिक जीवन की व्यस्तता कई बार पति-पत्नी एक अलगाव का निर्माण करती है, जो दो भिन्न संसार में सांस लेने लगते हैं। 'दो एकान्त' में मेहताजी ने उनकी मन:स्थितियों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उन्होंने इसमें दो प्रकार के चरित्रों का विश्लेषण भी दिया है -- वृक्ष-वृत्ति और मेघ वृत्ति। उसके नायक डॉ० विवेक में वृक्षवृत्ति का प्राधान्य है। ऐसे लोग जड़ जमाये और कोई कार्य नहीं कर सकते। यदि उन्हें जड़ से उखाड़ दिया जाय तो वे कितने भी परिश्रमी व प्रतिभासम्पन्न क्यों न हो टूटकर बिखर जाते हैं। उसकी नायिका डॉ० विवेक की पत्नी वानीरा मेघवृत्ति की है। ऐसे लोग उन मेघों के समान हैं जो अ आकाश में रहकर धरती को सींचते हैं। जड़ जमाकर रहना उनकी प्रकृति के विपरीत पड़ता है। परिणामत: वानीरा पहले क्लाइड और बादमें मेजर आनन्द जैसे शलाका-पु पुरुष के निकट सम्पर्क में आती है। वह मेजर आनन्द का गर्भ भी ढोती है, जिससे पति-पत्नी को सदा के लिए अलग होना पड़ता है।

गिरधर गोपाल का लघु उपन्यास 'चांदनी के खण्डहर' (१९५५) कुल चौबीस घण्टे की कथा कहता है। उपन्यास का नायक डॉ० डा० बसन्त जब विलायत से डाक्टरी पास करके घर लौटता है तब अपने परिवार की वीरानगी को महसूस-क करता हुआ स्वयं उसका जिम्मेदार समझने लगता है। इसमें लेखक ने मध्यवर्गीय घुटन एवं समस्याओं का सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी अन्वेषण किया है।

इनके अतिरिक्त रघुवंश का 'तन्तुजाल' (१९५८) तथा प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' (१९४१), 'द्वाभा' (१९५६) व 'सांचा' नामक उपन्यास भी इस धारा के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। कथा-शिल्प के क्षेत्र में 'तन्तुजाल' एक विशिष्ट प्रयोग है। उसका सम्पूर्ण कथानक नीरा और नरेश नामक दो पात्रों के चिन्तन में ही विकसित ह-होता है। नीरा रुग्णावस्था में है। नरेश उसे देखने आता है। ट्रेन में उसकी स्मृति पर आने वाले भाव-चित्रों के माध्यम से कथानक बुना गया है। इसकी कथावधि भी संक्षिप्त है।

सीमित है।

`परन्तु` में लेखक ने चेतन्न चेतना प्रवाह शैली का प्र्योग किया है। उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में `परन्तु` प्रतीक व्यंजना के रूप में आया है। इसमें डायरी शैली का भी कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है। `डाभा` में गद्यकाव्य, निबन्ध, रेखाचित्र, डायरी, कविता, गज़ल, शेर, लोककथाएं, रूपक, श्लोक, उद्धरण-अवतरण- आदि सभी साहित्यिक विधाओं का सफल विनियोग किया गया है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के इस संक्षिप्त अनुशीलन से प्रकट है कि कथ्य और शिल्प आदि सभी दृष्टियों से उनके लेखकों ने अभिनव प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। वैसे अनेक उपन्यासों में मनोविज्ञान के सिद्धान्त का विनियोजन प्रधान हो गया है और मुख्य कला-साधना उससे दब-सी गयी है। किन्तु ऐसी रचनाओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है जो मनोविश्लेषण के सहारे शिल्प के नये आयामों का पथ प्रशस्त करते हैं। व्यक्ति चरित्रों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा चरित्रों के अन्तर्मन की गहराई तक जाने वाला उनका लाघव इस युग के कृतित्व की अत्यन्त मूल्यवान उपलब्धियां हैं

<u>निष्कर्ष</u>: समूचे अध्याय के समग्रावलोकन से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं:

(१) प्रेमचन्दोत्तर काल में उपन्यास विधा का चतुर्मुखी विकास हुआ। यथार्थ के नये आयामों की ओर उपन्यासकार उन्मुख हुए। यथार्थ का यह निरूपण दोनों धरातलों पर हुआ -- सामाजिक एवं वैयक्तिक। सामाजिक धरातल पर यथार्थ का निरूपण सामाजिक, समाजवादी एवं आंचलिक उपन्यासों में हुआ। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी ऐतिहासिक यथार्थ का विशेष ध्यान साथ ही ऐतिहासिक खोजों एवं गंभीर अध्ययनों को अनेक लेखकोंने अपनाया है। वैयक्तिक धरातल पर यथार्थ का निरूपण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में दिखायी पड़ता है।

(२) अनासक्त लेखकत्व की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ी। उपन्यास नाटकीय होते गये। लघु उपन्यासों का प्रचलन बढ़ा-स। `त्यागपत्र`, `नारी`, `कल्याणी`, `हुज़ूर`, `पत्थरअल् पत्थर`, उसका बचपन` (१९५७- कृष्ण बलदेव वैद), `सूरज किरन की छांव` (१९५९-राजेन्द्र अवस्थी), `वह फिर नहीं आई`, `डार से बिछुड़ी` (१९५५-५६- कृष्णा सोबती), `कस्तूरी` (१९६०-शानी) आदि कई कलापूर्ण उपन्यास उपन्यास सामने आये।

(३) जीवनगत दुहरी रीति के कारण जीवन और फलत: उपन्यास के पात्र जटिल होते गये। वस्तु में मांसलता की अपेक्षा मानसिकता बढ़ी। उपन्यास ने स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण किया। पात्रों के अवचेतन मन की गहराइयों को उजागर करने के लिए मुक्त आसंग, आत्मविश्लेषण, स्वप्नविश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन, पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली, उद्धरण शैली, शब्दसहस्मृति आदि पद्धतियों का प्रयोग होने लगा। भाषा की प्रेषणीयता में वृद्धि ऐसी कृतियों की एक उल्लेख-योग्य विशेषता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास अधिकांशत: आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये। डायरी शैली, पत्रशैली आदि का उपयोग भी आवश्यकतानुसार होने लगा। ऐसे उपन्यासों में 'वर्ग-चरित्र' या 'टाईप-चरित्र' की अपेक्षा व्यक्ति-चरित्र का विकास हुआ।

(४) आलोच्यकाल की औपन्यासिक उपलब्धियों में हम निम्नलिखित उपन्यासों को गिना सकते हैं जिसमें रूचि-वैचित्र्य को पर्याप्त अवकाश है -- 'बूँद और समुद्र', 'गिरती दीवारें', 'झूठा सच', 'मैला आंचल', 'मृग नयनी' 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'त्यागपत्र', 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' आदि। आलोच्य काल में संक्षिप्त कथावधि (प्राय: एक-दो दिन या कुछ घण्टे) की टेक्नीक वाले 'चांदनी के खण्डहर', 'डूबते मस्तूल', 'तन्तुजाल' प्रभृति उपन्यास मिलते हैं। इन उपन्यासों में प्राय: स्मृति, पूर्वदीप्ति आदि का सहारा लेना पड़ा है।

(५) 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'परन्तु', 'बहती गंगा' आदि उपन्यासों में अनेक कथाओं में एक कथा के शिल्प का प्रयोग किया गया है। साथ ही 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा 'काठ का उल्लू और कबूतर' में कहानी-दर-कहानी की किस्सागोई पद्धति को प्रयुक्त किया गया है। 'हुजूर' तथा 'खाली कुरसी की आत्मा' में क्रमश: 'कुत्ते' तथा 'कुरसी' को नायक स्थान दिया गया है। नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ' भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है। 'बारह खम्भे' तथा 'ग्यारह सपनों का देश' में सहलेखन पद्धति प्रयोग हुआ है।

संक्षेप में आलोच्य काल में उपन्यास के कथा-शिल्प में अनेक प्रयोग हुए। इस काल में कलाकार की शिल्प-सभानता अपेक्षाकृत बढ़ी है, परन्तु इससे भावनाओं की अन्त:सरिता सूखनी नहीं चाहिए। शिल्पगत नवीनता जब फैशन का रूप धारण करती है, तब उपन्यास की आत्मा का हनन होता है। शिल्प

कथ्य की आवश्यक शर्तों के रूप में जहाँ आता है, वहाँ उपन्यास के आन्तरिक सौन्दर्य को हानि नहीं पहुँचती। यह स्मरणीय है कि शिल्प वस्तुत: साधन है, साध्य नहीं। ये शिल्प और कथागत अभियान साठोत्तर उपन्यासों में भी संक्रमणशील रहे। हम यह लक्ष्य कर चुके हैं कि इनमेंसे अनेक लेखक सन् १९६० के पश्चात् भी लिखते रहे हैं। अनेक लेखकों ने इस युग के अपने शिल्प को हमारे आलोच्य युग में और भी पैना किया तथा उसके साथ ही कलागत अभिनव प्रयोगों को विस्तार भी दिया जिस पर परवर्ती अध्यायों में विस्तार से विचार किया जायेगा।